श्री अरविन्द कर्मधारा

तुम्हारी अभीप्सा हमेशा आगे बढ़ती रहे, शुद्ध और सीधी, उस परम चेतना की ओर जो समस्त आनन्द और आशीर्वचन है।

श्रीमाँ

24 नवम्बर 2018 वर्ष 48 अंक 4

श्री अरविन्द कर्मधारा

श्री अरविन्द आश्रम-दिल्ली शाखा का मुखपत्र

24 नवम्बर 2018

वर्ष-48 - अंक-4

संस्थापक

श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर फकीर`

सम्पादक

त्रियुगी नारायण

सहसम्पादन

रूपा गुप्ता

विशेष परामर्श समिति

कु0 तारा जौहर, सुश्री रंगम्मा

ऑनलाइन पब्लिकेशन ऑफ श्री अरविन्द आश्रम दिल्ली शाखा (नि:शुल्क उपलब्ध)

कृपया सब्सक्राइब करें-

sakarmdhara@gmail.com

कार्यालय

श्री अरविन्द आश्रम दिल्ली-शाखा

श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली-110016

दूरभाषः 26524810, 26567863

आश्रम वैबसाइट

(www.sriaurobindoashram.net)

हम एक ऐसी विशेष स्थिति में हैं जैसी पहले कभी नहीं आयी। हम उस बेला में उपस्थित हैं जब नया जगत् जन्म ले रहा है, पर जो अभी बहुत छोटा है और दुर्बल है – जो अभी पहचाना नहीं गया, अनुभव नहीं किया गया, पर यह मौजूद है और बढ़ने का प्रयत्न कर रहा है तथा अपने परिणाम के बारे में सुनिश्चित है। लेकिन इस तक पहुँचने वाला पथ बिल्कुल नया पथ है जिस पर अब तक कोई चला। यह आरम्भ है, एक विश्वव्यापी आरम्भ, एक बिल्कुल अप्रत्याशित और अकल्पित अभियान।

कुछ लोगों को अभियान प्रिय होते हैं... उन्हें मैं इस महान अभियान के लिये आमंत्रित करती हूँ।

श्रीमाँ

इस अंक में...

1. *प्रार्थना और ध्यान* 4
   श्रीमाँ
2. *सम्पादकीय* 6
3. *रूपांतर* 7
4. *प्रेम* 9
5. *अवतरण और चेतना का दिव्य रूपान्तर* 11
   डा0 के. एन. वर्मा
6. *आर्य आदर्श और गुणत्रय* 15
   श्री अरविन्द
7. *खुश रहो !* 24
   श्री माँ
8. *भय को जीतो !* 25
   - श्रीमाँ
9. *रविन्द्रनाथ ठाकुर* 26
   हे, अंतर्यामी ! तू तो जानता ही है-
10. *साहस* 27
    श्रीमाँ
11. *अभीप्सा की आग कैसे जलायें* 30
    डॉ. के. एन वर्मा
12. *अचंचल रहो* 35
    श्रीमाँ
13. *आध्यात्मिकता और नैतिकता* 36
    श्रीमाँ
14. *चुप रहना* 38
    श्री माँ
15. *जब जीवन शुष्क हो जाए* 39
    रविन्द्रनाथ ठाकुर
16. *विजय* 40
    विमला गुप्ता
17. *पिछली तिमाही के कार्यक्रम* 50
18. *प्रेरणाएँ* 51
19. *आश्रम गैलरी* 51

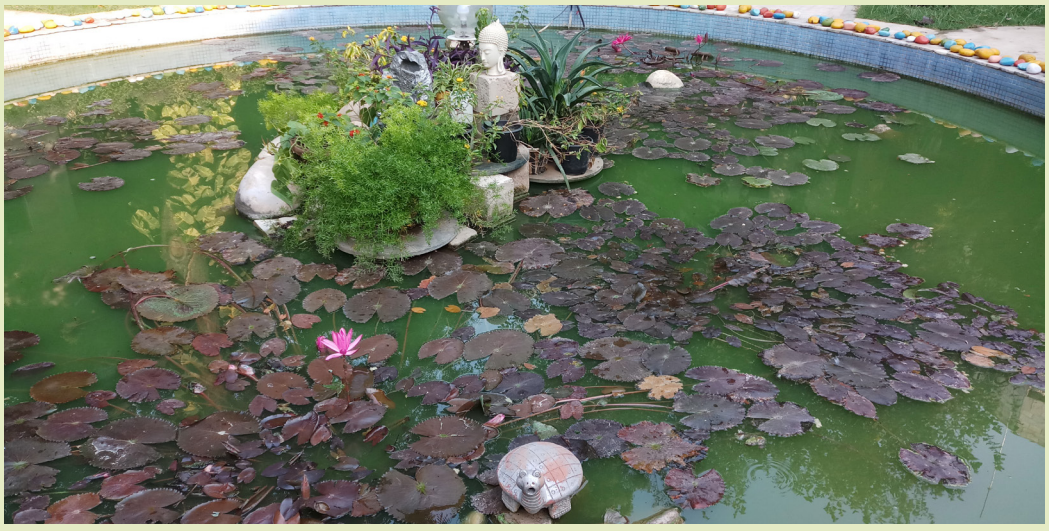

प्रार्थना और ध्यान

श्रीमाँ

यह सब कोलाहल किस लिये, यह दौड़-धूप, यह व्यर्थ की थोथी हलचल किस लिये? यह बवंडर किस लिये जो मनुष्यों को झंझावात में फँसे हुये मक्खियों के दल की भाँति उड़ाये ले जाता है? यह समस्त व्यर्थ में नष्ट हुई शक्ति, ये सब असफल प्रयत्न कितना शोकप्रद दृश्य उपस्थित करते हैं। लोग रस्सियों के सिरे पर कठपुतलियों की भाँति नाचना कब बन्द करेंगे? वह यह भी नहीं जानते कि कौन या क्या वस्तु उनकी रस्सियों को पकड़े उनको नचा रही है। उनको कब समय मिलेगा शांति से बैठकर अपने-आप में समाहित होने का, अपने-आपको एकाग्र करने का, उस आंतरिक द्वार को खोलने का जो तेरे अमूल्य खज़ाने, तेरे असीम वरदान पर परदा डाल रहा है?

अज्ञान और अंधकार से भरा हुआ, मूढ़ हलचल तथा निरर्थक विक्षेपवाला उनका जीवन मुझे कितना कष्टप्रद और दीनहीन लगता है जबकि तेरे उत्कृष्ट प्रकाश की एक किरण, तेरे दिव्य प्रेम की एक बूँद इस कष्ट को आनन्द के सागर में परिवर्तित कर सकती है। हे प्रभु मेरी प्रार्थना तेरी ओर उन्मुख होती है, आखिर ये लोग तेरी शान्ति तथा उस अचल और अदम्य शक्ति को जान लें तो अविचल धीरता से प्राप्त होती है। और

यह धीरता केवल उन्हीं के हिस्से आती है जिनकी आँखें खुल गईं हैं और जो अपनी सत्ता के जाज्वल्यमान केन्द्र में तेरा चिन्तन करने योग्य बन गये हैं।

परन्तु अब तेरी अभिव्यक्ति की घड़ी आ गयी है और शीघ्र ही आनन्द का स्तुति-गान सब दिशाओं से फूट पड़ेगा। इस घड़ी की गम्भीरता के आगे मैं भक्तिपूर्वक शीश नवाती हूँ।

हे दिव्य स्वामी, प्रदान कर कि यह दिन हमारे लिये तेरे विधान के प्रति अधिक पूर्ण आत्मनिवेदन का, तेरे कर्म के प्रति अधिक सर्वांगीण समर्पण का, अधिक समय निज-विस्मृति का, अधिक विशाल प्रकाश का तथा अधिक पवित्र प्रेम का अवसर बने; और यह भी प्रदान कर कि तेरे साथ अधिकाधिक गम्भीर और अटूट अन्तर्मिलन द्वारा हम उत्तरोत्तर अधिक अच्छी तरह तेरे योग्य सेवक बनने के लिये अपने-आपको तेरे साथ एकीभूत करें। हमसे समग्र अहंता, तुच्छ अभिमान, सारा लोभ और सारा अंधकार दूर कर ताकि तेरे दिव्य प्रेम से पूर्णतया प्रज्जवलित होकर संसार में हम तेरी दीपिकाएँ बनें।

पूर्व के सुवासित धूप के सफेद धुएँ के समान मेरे हृदय से एक मौन गीत उठता है।

और पूर्ण समर्पण के प्रशांत भाव में इस दिनोदय के समय मैं तुझे नमस्कार करती हूँ।

सम्पादकीय

अतिमानव

मैं आश्रम के वातावरण में सब लोगों से यह सुनता आ रहा था कि मनुष्य भगवान् की सृष्टि के विकास-क्रम में अन्तिम कड़ी नहीं है। सृष्टि के विकास-क्रम में एक नयी नस्ल आयेगी जो अतिमानव कहलायेगी। यह सब सुन-सुनकर मैं बहुत परेशान हो रहा था, दुविधा और उलझन में पड़ा हुआ था। इसलिये ना तो मुझे कुछ समझ में आता था और न कुछ विश्वास होता था।

मैं बार-बार माताजी से पूछता था और माताजी थोड़ा-थोड़ा करके मुझे समझाने की कोशिश कर रहीं थीं। एक दिन माताजी ने मुझे काफ़ी लम्बे समय और देर तक समझाया कि यह नयी मनुष्य जाति धरती पर आयेगी। मैंने बेचैन होकर पूछा कि, "यह नयी मनुष्य जाति कब तक आ जायेगी?"

माताजी ने समझाया कि, "अब तक तो सृष्टि का विकास प्रकृति कर रही थी और मनुष्य को यहाँ तक पहुँचाने में प्रकृति को लाखों साल लग गये हैं। परन्तु अब मनुष्य जाति को बुद्धि और मन दिया गया है यदि मनुष्य यह समझ जाये कि यह जाति पूर्ण नहीं है और इसके पूर्ण होने की आवश्यकता है। मनुष्य जाति में यह चेतना और तड़प आ जाये, इस आवश्यकता के लिये मनुष्य जाति सचेतन रूप से चिन्तन और सक्रिय प्रयास करे, नयी जाति को लाने में और भगवान् के साथ उस विकास-क्रम में पूरा प्रयास व सहयोग करे, तब तीस हजार साल में नयी जाति आ सकती है। परन्तु यदि मनुष्य बेध्यान, अनभिज्ञ और उदासीन बना रहे तब प्रकृति अपना क्रम और रास्ता लेगी। उस अवस्था में उसमें लाखों वर्ष लग सकते हैं और पिछड़ने का खतरा भी हो सकता है।

"उस सूरत में उस दौरान दुःख व कष्ट कौन भोगेगा? केवल यह मनृष्य ही। आशा है तुम कुछ समझ गये होंगे।"

श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर की श्री माँ से बातचीत का उपर्युक्त अंश आशा है पाठकों को मानव मन में चेतना के अवतरित होने के महत्व को और स्पष्ट करने में सहायक होगा, जिसके लिये यह अंक समर्पित है। सुधि पाठकों के सुझावों व प्रतिक्रियाओं का स्वागत है।

रूपा गुप्ता

रूपांतर

प्रभो, हम धरती पर रूपांतर का तेरा कार्य करने के लिये हैं। यही हमारी एकमात्र इच्छा, एकमात्र तन्मयता है। वर दे कि यह हमारा एकमात्र व्यवसाय भी हो और हमारे सारे कार्य, इस एक लक्ष्य की ओर जाने में हमारी सहायता करें।

श्रीअरविन्द का योग करने का अर्थ है, सर्वांगीण रूप से अपना रूपांतर करने की इच्छा करना। अपने जीवन में यही एकमात्र लक्ष्य रखना, ऐसा कि इसके सिवा और कोई लक्ष्य ही न रहे, बस उसीका अस्तित्व हो । तब तुम चाहो या न चाहो, तुम स्पष्ट रूप से उसीका अनुभव करते हो, लेकिन अगर तुम नहीं चाहते तो भी, तुम सदभावना का जीवन, सेवा का जीवन, आपसी समझौते का जीवन जी सकते हो। तुम दिव्य कार्य को ज्यादा आसानी से पूरा करने के लिये श्रम कर सकते हो-यह सब और अन्य बहुत-सी चीजें कर सकते हो, लेकिन इसके और करने के बीच बहुत अंतर है।

केवल मन और प्राण ही नहीं, शरीर को भी अपने समस्त कोषाणुओं में दिव्य रूपांतर के लिये अभीप्सा करनी चाहिये।

रुपांतर वह परिवर्तन है जिसके द्वारा सत्ता के सभी तत्व और सभी गतियाँ अतिमानसिक सत्य को अभिव्यक्त करने के लिये तैयार हो जाती हैं।

सत्य-चेतना उन्हीमें अभिव्यक्त हो सकता है जो अहंकार से मुक्त हों।

एकमात्र सृजन जिसके लिये यहाँ कोई स्थान है, वह है अतिमानसिक सृजन, दिव्य सत्य को धरती पर उतारना, केवल मन और प्राण में नहीं शरीर और जड़ तत्व में भी। हमारा उद्देश्य अंह के विस्तार की सभी सीमाओं को हटाना और मानव मन के सभी विचारों को अंह-केंद्रित प्राण-शक्ति की कामनाओं की परिपूर्ति के लिये खुली छूट देना नहीं है, हममें से कोई भी यहाँ "जो मरजी करने के लिये" या एक ऐसा जगत् बनाने के लिये नहीं है जहाँ हम अंततः जो चाहें वह कर सकेंगे। हम यहाँ वह करने के लिये हैं जो भगवान् चाहें एक ऐसा जगत् बनाने के लिये हैं जिसमें दिव्य इच्छा अपने सत्य को मानव अज्ञान से विकृत हुए बिना, प्राणिक कामना से भ्रष्ट और अशुद्ध रूप में अनूदित हुए बिना व्यक्त कर सके। अतिमानसिक योग के साधक को जो कार्य करना है वह उसका अपना कार्य नहीं है जिसके लिये वह अपनी निजी शर्तें लगा सकता है। वह भगवान् का कार्य है जिसे उसे भगवान् की लगायी शर्तों के अनुसार करना है। हमारा योग हमारे अपने लिए नहीं है, भगवान् के लिए है। हमें अपनी निजी अभिव्यक्ति नहीं खोजनी है, ऐसी अभिव्यक्ति जिसमें

व्यक्तिगत अहं सभी सीमाओं और बंधनों से मुक्त हो, बल्कि भगवान् की अभिव्यक्ति को खोजना है। हमारी अपनी आध्यात्मिक मुक्ति, पूर्णता, समग्रता उस अभिव्यक्ति के परिणाम और भाव होंगे पर किसी अंहभाव या अंह-केंद्रित या स्वार्थी प्रयोजन के लिये नहीं।

इस मुक्ति, पूर्णता, समग्रता को भी स्वयं अपने लिये नहीं भगवान् के लिये खोजना होगा।

ॐ

प्र0 क्या भगवान कभी कभी हमारी इच्छित वस्तु नहीं देते?

अवश्य। एक नौजवान आदमी था जो योग करना चाहता था परन्तु उसका पिता नीच और क्रूर था, वह उसे बहुत कष्ट देता और उसे योग साधना करने से रोकने की कोशिश करता था। उस नौजवान की तीव्र इच्छा हुयी कि वह अपने पिता के हस्तक्षेप से मुक्त हो जाये। शीघ्र ही उसका पिता बीमार पडा, उसका रोग गम्भीर हो गया और वह मरने मरने को हो गया। अब उस युवक की प्रक्रति का दूसरा भाग जाग उठा और वह उस दुर्भाग्य को कोसता विलाप करने लगाः "आह, मेरे पिताजी इतने बीमार हो गये, यह बड़े दुख की बात है! हाय, अब मैं क्या करूँ?" उसका पिता अच्छा हो गया। युवक बड़ा प्रसन्न हुआ और फिर से योग की ओर मुड़ा। उसका पिता भी अब दूने वेग से उसका विरोध करने लगा और उसे सताने लगा। लडका विकल होकर सिर धुनने लगाः "अब मेरे पिताजी मेरे मार्ग में और भी अधिक बाधक हो रहे हैं।" सारांश यह है कि हमें ठीक ठीक जानना चाहिये कि हम चाहते क्या हैं।

माताजी

प्रेम

भगवान् से प्रेम करो, भगवान् के प्रति समर्पण करो, भगवान् के लिये जियो और सच्चे निष्कपट बनो।

प्रभु हमेशा हम सब के साथ हैं और हम सब उनके साथ सतत सम्पर्क में रह सकते हैं अगर हम आवश्यक कार्य करें और वह है केवल उनसे प्रेम करना।

यहाँ ऐसे व्यक्ति हैं जो उन्हें (श्रीअरविंद को) देखते हैं और सतत रूप से उनके सम्पर्क में रहते हैं। वे वही हैं जो उनके आदेश के अनुसार जीने के लिये उनसे निष्कपट तथा पर्याप्त तथा रूप से प्रेम करते हैं।

माताजी

राधा भगवान् के लिये निरपेक्ष प्रेम का मूर्तिमान आदर्श है, उच्चतर आध्यात्मिक से जड़-भौतिक तक में सत्ता के सभी भागों में पूर्ण और सर्वांगीण, जो समस्त सत्ता का निरपेक्ष आत्मा-समर्पण तथा पूर्ण उत्सर्ग लाती है।

जो प्रेम भगवान् के प्रति मुड़ा हुआ हो उसमें वह सामान्य प्राणिक भाव नहीं होना चाहिये जिसे मनुष्य इस नाम से पुकारते हैं; क्योंकि वह प्रेम नहीं है, वह तो बस एक प्राणिक कामना, विनियोग की सहज वृत्ति, अधिकार करने का आवेग और एकाधिकार की भावना होती है। यह भागवत प्रेम तो नहीं है और इसे कम-से-कम मात्रा में भी योग के साथ मिलने की छूट नहीं देनी चाहिये। भगवान् के प्रति सच्चा प्रेम है आत्मोत्सर्ग जो माँग रहित हो,आत्म-समर्पण तथा उत्सर्ग से भरा हो। वह कोई दावा नहीं करता, कोई शर्त नहीं लगाता, कोई सौदा नहीं करता, ईर्ष्या, अभिमान या क्रोध की किन्हीं भी उग्रताओं में रस नहीं लेता क्योंकि उसकी बनावट में ये सब चीजें हैं ही नहीं। बदले में परम माता भी स्वयं को मुक्त रूप में देती हैं-ये अपने आपको इस तरह आंतरिक अर्पण के रुप में निरुपित करती हैं- तुम्हारे मन, प्राण, भौतिक चेतना में उनकी उपस्थिति, तुम्हें भागवत प्रकृति में पुनर्गठित करने की उनकी शक्ति, तुम्हारी सत्ता की सभी गतिविधियों को अपने हाथ में लेकर उन्हें पूर्णता तथा परिपूर्ति की ओर प्रवृत्त करना। तुम्हें अपने सभी भागों में, निम्नतम जड़-भौतिक तक में अनुभव करने और अधिकृत करने की अभीप्सा करनी चाहिये, और यहाँ कोई सीमा नहीं है, न समय की न समग्रता की...।

गलतफ़हमियों से बचने के लिये शायद मुझे दो तीन बातें जोड़ देनी चाहियें। पहली, भगवान, के बारे में मैं जिस प्रेम की बात कर रहा हूँ वह केवल चैत्य प्रेम नहीं है; यह समस्त सत्ता का प्रेम है, प्राण तथा भौतिक उसमें सम्मलित हैं- सभी उसी समान आत्मदान में समर्थ हैं। यह मानना भूल है कि अगर प्राण

प्रेम करता है तो वह ऐसा प्रेम होना चाहिये जो अपनी कामना की संतुष्टि की माँग करता और उसे आरोपित करता हो, या फिर प्राण को-अपनी आसक्ति से बच निकलने के लिये-अपने प्रेम पात्र से एकदम से अलग हो जाना चाहिये। प्राण अपने संदेहरहित आत्म-दान में सत्ता के अन्य किसी भी भाग की तरह निरपेक्ष हो सकता है; जब वह अपने प्रियतम के लिये स्वयं को भूल जाता है तो उसकी इस क्रिया से अधिक उदार कुछ नहीं हो सकता।

प्राण तथा भौतिक दोनों को अपने-आपको सच्चे तरीके से देना चाहिये-प्रेम के सच्चे तरीके से, अहंकारमयी कामना के तरीके से नहीं।

श्रीअरविंद

हे प्रभो, हे अद्‌भुत सखा, हे सर्वशक्तिमान् स्वामी, हमारी समस्त सत्ता में प्रवेश कर, यहाँ तक कि हमारे अंदर और हमारे द्वारा केवल तू ही जिये। "मैं तुझसे प्रेम करता हूं और मैं समस्त शाश्वत के लिये तेरा हूँ।"

-श्रीअरविंद

अवतरण और चेतना का दिव्य रूपान्तर

डा0 के. एन. वर्मा

शक्ति के अवतरण का उद्देश्य ही है जीवन का दिव्य रूपान्तर। भगवान का मिशन ही है धरती पर के जीवन को स्वर्ग जैसा सुन्दर बनाना। मानवीय चेतना की तैयारी के अनुपात में भावगत प्रेम धीरे-धीरे क्रम से धरती की चेतना में उतरता है और चूँकि मानव चेतना में विभिन्न परतें हैं-ग्रहणशील,कम ग्रहणशील और अग्रहणशील तामसिक और कठोर इसलिये अवतरण करने वाली शक्ति और प्रेम भी ग्रहणशीलता के अनुपात में, कम ऊँचाई, अधिक ऊँचाई और सर्वोच्च शिखर अर्थात अतिमानस से उतरते हैं। मोटे तौर पर हमारी सत्ता में आत्मा, मन, प्राण और शरीर की विभिन्न चेतनायें हैं। इनमें अकेले शरीर में ही अवचेतन से द्रव्य (Matter) के निश्चेतन तक कितनी ही परतें विद्यमान हैं। इस घोर निश्चेतन अर्थात् तमोगुणी जड़ता की पेंदी में सुप्रामेण्टल अर्थात् अतिमानस का जमा हुआ शुद्ध द्रव्य मौजूद है जहाँ से सारी सृष्टि उत्पन्न और विकसित होती है। जीवन की अदिव्यता का कारण है हमारे भीतर विभिन्न चेतनाओ के रूप में बुरे संस्कारों और विकारों की परत दर परत जमावट। जीवन के सभी स्तरों में किसी न किसी प्रकार की विकृति मौजूद है। मन में अनेकों झूठी मान्यतायें, आदतें, अहंमन्यतायें, प्रदर्शन और पाखण्ड की प्रवृत्तियाँ, प्राण में अंधविश्वास, कट्टरतायें, जातीय व सांप्रदायिक रूढ़ियाँ, आवेश, संवेग, ईर्ष्या, क्रोध, वासनायें, शरीर में खान-पान, रहन-सहन,भोग,रूप,रस,गंध,स्पर्श जैसी भूखें मौजूद होती हैं। सबसे नीचे अन्धकार, अज्ञान,मित्थ्यात्व और मृत्यु जैसी दानवी शक्तियाँ अपना डेरा डाले हुये हैं। मन के ऊपर आध्यात्मिक लोक, देव लोक अतिमानस व सच्चिदानन्द के दिव्य लोक हैं। इन सबके प्रभावों के घोल मेल का नाम ही है मानव जीवन जिसकी रीढ़ चेतना के दो विरोधी ध्रुवों-दिव्यता और अदिव्यता को जोड़ती है। अदिव्यता की इस अटूट श्रृंखला के प्रभावों के कारण जीवन इतना संत्रस्त है। इन्हें दूर करने के सारे धार्मिक, आध्यात्मिक और नैतिक साधन अभी तक असफल ही सिद्ध हुये हैं।

श्रीअरविन्द और श्रीमाँ ने अपने चेतनात्मक अनुसंधान द्वारा यह पता लगाया कि चेतना के उच्चतम शिखर अतिमानस की चेतना को यदि किसी प्रकार नीचे की अदिव्य चेतना के स्तरों पर उतार लिया जाये और वहाँ उसे ठहरा दिया जाये तो जीवन दिव्य

हो जायेगा और धरती स्वर्ग बन जायगी और यदि कहीं ऊपर के अतिमानस को निश्चेतना में दबे नीचे के अतिमानस से जोड़ दिया जाय तो एक देवोपम सृष्टि का निर्माण हो जायगा। इस अनुसंधान को उन्होंने योग द्वारा कार्यरूप में परिणित करने का अंत तक प्रयास किया और अतिमानस चेतना को धरती और मानव कल्याण के लिये नीचे उतार लाने में सफल भी हो गये पर उसे अधोलोकों में बसा पाना लोगों की ग्रहणशीलता, स्वीकारोक्ति और अभीप्सा पर निर्भर करता है। यह भागवत प्रेम धरती की चेतना में तभी ठहर सकता है जब मनुष्य के भीतर की निम्न से निम्न चेतना भी उसे ग्रहण करना चाहेगी। यही सबसे दुष्कर कार्य है। हमारी अदिव्यतायें और विकृतियों का जीवन भगवान् के दिव्य प्रेम को स्वीकार नहीं करता। अंधकार प्रकाश को ग्रहण नहीं करना चाहता। मृत्यु अमरता के सोम को घूटने से इंकार करती है। यही मनुष्य की वर्तमान समस्या है फिर भी चुँकि दिव्य शिखर में भगवान् का निर्णय मानव जाति के उद्धार का हो चुका है, और पृथ्वी को दिव्यता का अनुपम वरदान मिल चुका है इसलिये रूपान्तर का कार्य ग्रहणशीलता के अनुपात में शुरू हो चुका है और चाहे इस कार्य में सदियों का समय लग जाये पर भागवत इच्छा निष्फल नही होगी।

प्रेम की इस दिव्य धारा को जीवन के विभिन्न प्रदेशों के साथ जोड़ने के लिये भगवती माता ने मानव शरीर धारण कर मनुष्यों के भीतर चैतन्य शक्ति के ग्रहण करने के लिये चैत्य पुरुष को हृदयों में जागृत और विकसित किया है। यह चैत्य पुरुष अतिमानस शक्ति का मनुष्य के भीतर एक छोटा सा ट्रासंफार्मर है जो ऊपर से अवतरित होने वाले दिव्य प्रेम को ग्रहण करता है और फिर स्नायु मण्डल के विभिन्न तारों और कोशिकाओं के माध्यम से सत्ता के अँधेरे पक्षों में भगवान् के प्रेम व प्रकाश को संचारित करता है। यह चैत्य पुरुष ही दिव्य जीवन की कुंजी है जो इस युग में मानव जाति को प्रारब्ध के रूप में मिली है और जिसके लिये देवता तरसते हैं।

चैत्य पुरुष शक्ति, प्रेम व भागवत प्रकाश को धारण करते हुये क्रम से मन, प्राण और शरीर बने त्रिगुणात्मक जीवन को सबसे पहले रूपान्तरित करने का प्रयास करता है। इसके लिये बार बार के Descent की आवश्यकता होती है क्योंकि हमारी वासनायें और विकृतियाँ इस अमरता के अमृत का जमकर दुरुपयोग करती हैं और उसे अपनी कूड़ेदानी में बार-बार फेंक देती हैं फिर भी किंचित प्रभाव भी धीरे-धीरे उनकी प्रकृति में परिवर्तन ला देता है। ज्यों ज्यों मंदिर साफ होता जाता है अवतरण नीचे को धँसता जाता है। रूपांतर का कार्य वर्ष का काम नहीं है। इसमें वर्षों यहाँ तक कि सारा जीवन ही लग जाता है। यह

अवतरण त्रिगुणात्मक जीवन की तलहटी में जब पहुँचता है तो रूपांतर की क्रिया एक युद्ध भूमि में परिणित हो जाती है। हमारी अवचेतना और निश्चेतना के प्रदेश असत् अंधकार, पीड़ा, झूठ, अन्याय, विनाश और मृत्यु के गढ़ हैं जिनका प्रतिनिधित्व अंधकार की प्राणलेवा शक्तियाँ करती हैं। इन्हें ही असुर, दैत्य या वेदों में पणि, बल,वृत्र और यम कहा गया है। ये शक्तियाँ पग पग पर अवतरण को रोकने के लिये युद्ध करती हैं। तब हमारा जीवन कुरुक्षेत्र बन जाता है। इस युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिये साधक को अर्जुन का गाण्डीव धारण करना पड़ता है और चैत्य-कृष्ण को अपने रथ का सारथी बनाना पड़ता है।

निश्चेतना का यह दुर्गम गढ़ श्रीअरविन्द और श्रीमाँ के अनुसार नर्क की पेंदी में छिपा हुआ एक अमूल्य खजाना भी है। ये विरोधी दानवी शक्तियाँ वास्तव में इस खजाने की पहरेदार हैं और इसकी रक्षा करने के लिये ही ये जीवन के ऊर्ध्वलोकों तक हमला करती हैं। अदिव्यता के घर में परम दिव्यता का खजाना – यह खोज आध्यात्मिक जीवन की सबसे बड़ी खोज है जिसे श्रीअरविन्द और श्रीमाँ ने पूरा किया।

श्रीअरविन्द कहते हैं –

"निश्चेतना का जगत अति चेतना की ही सषुप्त अवस्था है और अंधकार छिपाये गये परमप्रकाश का जादू है...खोजी स्पन्दन की वाणी ने एक अदृश्य और वर्जित घर में प्रवेश किया जहाँ उसे महान दिवस का खजाना मिल गया और जिसे वासना के कंजूस पणिक खर्च ना कर महारात्रि के विकराल पंजो के नीचे दबाये पहरा दे रहे थे। यदि यह खजाना छिपा ना होता तो इस अमूल्य निधि (सत्य के प्रकाश) से संसार को ज्ञान की गरीबी से बचा लिया गया होता।"

निश्चेतना का यह साम्राज्य false matter का राज्य है। Matter अपने मूल में विशुद्ध चैतन्य अर्थात अतिमानस ही है लेकिन इसे भौतिक मन ने अज्ञान के तमस का चश्मा लगाकर अशुद्ध (false) बना डाला। यह भौतिक मन कीचड़ जैसी दीवाल या काला चश्मा है जिसके माध्यम से देखने पर सारा कुछ जो सुन्दर था वह असुन्दर में बदल गया। यही हमारे जीवन की सबसे जटिल और मायावी समस्या है। इसके कारण ही चेतना की गहराई में सारी अच्छाइयाँ बुराइयों में, सारा देवत्व असुरत्व में बदल गया। जीवन मृत्यु में बदल गया। यदि इस दीवाल को किसी प्रकार पार कर लिया जाये तो जीवन और मृत्यु में कोई अंतर नहीं रह जाता। सारा भ्रम दूर हो जाता है। मृत्यु का स्थान अमरत्व और असत् का स्थान सत् ले लेता है। सत्ता के छोर में Material Supermind से मिल जाता है और शिखर की Spirit पेंदी के Matter से मिल जाती है।

इसलिये सारी समस्या है इस भौतिक मन (Physical Mind) की दीवाल को ढहाने की अर्थात् मन के बुने इस काले जाल या चश्मे को हटाने की। प्रकृति स्वयं इस दैवनिर्दिष्ट कार्य को धीरे-धीरे अपने ढंग से कर रही है और सारा विकास इसी दिशा की ओर जा रहा है पर प्रकृति को इस कार्य में लाखों करोड़ों वर्ष लग सकते हैं। Descent की शक्ति से इसे कुछ सौ वर्षों में ही पूरा किया जा सकता है।

भगवान् की कृपा ने विकास की प्रक्रिया को तीव्र करने के लिये ही हस्तक्षेप किया है। Descent इसी कृपापूर्ण हस्तक्षेप का परिणाम है। इस परमशक्ति को धारण करके योद्धा साधक भगवान् के इस कार्य को पूरा करने के लिये युद्ध के मैदान में कूदते हैं और भौतिक मन के अँधेरे जगत् में धावा बोलते हैं। यहीं यह योग कठिन युद्ध बन जाता है जिसे हर कोई नहीं लड़ सकता। माँ योद्धा साधकों का चुनाव करके अपने रणवांतुरों को ही इस संघर्ष में झोंकती हैं और स्वयं ही सेनापति बनकर Descent के रूप में अपने वज्र से कीचड़ की दीवाल को गिराने का अभियान शुरू करती हैं। विरोधी शक्तियाँ भौतिक मन की ही कौरवी शक्तियाँ हैं जो जानवरों व मनुष्यों को ही अपना यंत्र बनाती हैं। ये सत्तायें वैसी मानवेतर नही होती जैसा काल्पनिक चित्रों में विकराल रूप देकर दिखाया जाता है। निश्चेतन में साधना के पहुँचते ही अर्थात् Decent के वज्र के गहराई में जाते ही जानवर, आदमी, पड़ोसी सभी चीजें आक्रामक हो जाती हैं। सारी कठिनाइयाँ एक साथ टूट पड़ती हैं। माता जी कहती हैं कि यही श्रीअरविन्द और उनके साथ घटा। पर बिना इस युद्ध को लड़े और विरोधों पर विजय पाये रूपान्तर पूर्ण नहीं हो सकता। तमस को तोड़ने के लिये Descent का प्रयोग सब्बल के रूप में करना पड़ता है। और लड़ाई चाहे जितनी लम्बी चले, इस तमस को तोड़ना अवश्यंभावी है। माँ के अनुसार यह भगवान् की इच्छा है और उसे पूरा करने का यही समय है।

माँ और श्रीअरवीन्द दोनों ने इस युद्ध में अपनी बलि दी है और तमस में छेद हो चुका है। मानव जाति के रणबाँकुरों को उन्होंने बाकी के कार्य को पूरा करने में सहयोग के लिये आह्वान किया है। लोगों को इस यज्ञ में भाग लेने से कतराना नहीं चाहिए क्योंकि इस संघर्ष में जितना कष्ट है उससे सहस्र गुणा कृपा और क्षण-क्षण में माँ का अकल्पनीय दुलार व भगवान् की सतत् उपस्थिति, योद्धा साधक को धन्य कर देती हैं।

आर्य आदर्श और गुणत्रय

श्री अरविन्द

'कारागृह और स्वाधीनता' शीर्षक लेख में कई निरपराध कैदियों के मानसिक भाव का वर्णन कर मैंने यही प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि आर्य-शिक्षा के प्रभाव से जेल में भी भारतवासियों की आन्तरिक स्वाधीनता-रूपी बहुमूल्य पैतृक सम्पत्ति नष्ट नहीं होती – बल्कि घोर अपराधियों में भी हजारों वर्षों से सञ्चित वह आर्य-चरित्रगत देव-भाव भग्नावशिष्ट रूप में वर्तमान रहता है। आर्य-शिक्षा का मूल मन्त्र है सात्विक भाव। जो सात्विक है वह विशुद्ध है। साधारणतया मनुष्यमात्र ही है अशुद्ध। रजोगुण का प्राबल्य होने से, तमोगुण के घोर अन्धकार के छा जाने से यह अशुद्धि परिपुष्ट और वर्धित होती है। मन का मालिन्य है दो प्रकार का–जड़ता या अप्रवृत्ति-जनित मालिन्य; यह तमोगुण से उत्पन्न होता है। दूसरा, उत्तेजना या कुप्रवृत्तिजनित मालिन्य; यह रजोगुण के उद्रेक द्वारा ही हो सकता है। रजोगुण ही प्रवृत्ति का कारण है और प्रवृत्ति ही है निवृत्ति की पहली सीढ़ी। जो जड़ है वह निवृत्त नहीं, क्योंकि जड़भाव ज्ञानशून्य है और निवृत्त का मार्ग ज्ञान ही है कामनाशून्य होकर जो कर्म में प्रवृत्त होता है वही निवृत्त है – कर्मत्याग का नाम निवृत्ति नहीं है। इसीलिए भारत की घोर तामसिक अवस्था को देख स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे, "रजोगुण चाहिये, देश में कर्मवीर चाहिये। प्रवृत्ति का प्रचण्ड स्त्रोत बह जाने दो। परवाह नहीं यदि उससे पाप भी आ घुसे, वह तामसिक निश्चेष्टता की अपेक्षा हजारगुना अच्छा होगा।"

भारत की घोर तामसिक अवस्था को देख स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे, "रजोगुण चाहिये, देश में कर्मवीर चाहिये। प्रवृत्ति का प्रचण्ड स्त्रोत बह जाने दो। परवाह नहीं यदि उससे पाप भी आ घुसे, वह तामसिक निश्चेष्टता की अपेक्षा हजारगुना अच्छा होगा।"

वास्तव मे हम घोर तम में निमग्न हैं, फिर भी सत्त्वगुण की दुहाई देते हुए महासात्तविक का स्वांग भर हम अपनी बड़ाई करते फिरते हैं। बहुतों का यह मत है कि सात्तविक होने के कारण ही हम राजसिक जातियों द्वारा पराजित हुए, सात्तविक होने के कारण ही हम इस प्रकार अवनत और अधःपतित हैं।

ऐसी युक्तियाँ दे ईसाई धर्म से हिन्दूधर्म की श्रेष्ठता प्रमाणित करने की चेष्टा की जाती है। ईसाई –जाति प्रत्यक्ष फलवादी है, इस जाति के लोग धर्म का ऐहिक फल दिखा धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने की चेष्टा करते हैं; इनका कहना है कि ईसाई-जाति ही जगत् में प्रबल है, अतएव ईसाई धर्म ही है श्रेष्ठ धर्म और हममें से कितनों का कहना है कि यह भ्रम है; ऐहिक फल को देखकर धर्म की श्रेष्ठता का निर्णय नहीं किया जा सकता, पारलौकिक फल को देखना चाहिये ,हिन्दूजाति अधिक धार्मिक है इसीलिए वह असुरप्रकृति बलवान् पाश्चात्य जाति के अधीन हुई। परन्तु इस युक्ति में आर्यज्ञान-विरोधी घोर भ्रम निहित है। सत्त्वगुण कभी भी अवनति का करण नहीं हो सकता; यहाँ तक कि सत्त्वप्रधान जाति दासत्व की श्रृखंला में बंधकर नहीं रह सकती। ब्रह्मतेज ही है सत्त्वगुण का मुख्य फल, क्षात्रतेज है ब्रह्मतेज की भित्ति। आघात पाने पर शान्त ब्रह्मतेज से क्षात्रतेज का स्फुलिंग निर्गत होता है, चारों दिशाएँ धधक उठती हैं। जहाँ क्षात्रतेज नहीं वहाँ ब्रह्मतेज टिक नहीं सकता। देश में यदि एक भी सच्चा ब्राह्मण हो तो वह सौ क्षत्रियों की सृष्टि कर सकता है। देश की अवनति का कारण सत्त्वगुण का अतिशय नहीं, बल्कि रजोगुण का अभाव है, तमोगुण का प्राधान्य है। रजोगुण के अभाव से हमारा अन्तर्निहित सत्य म्लान हो, तम में विलीन हो गया। आलस्य, मोह, अज्ञान, अप्रवृत्ति, निराशा, विषाद, निश्चेष्टता के साथ-साथ देश की दुर्दशा और अवनति भी बढ़ने लगी। यह मेघ पहले हल्का और विरल था, फिर कालक्रम में वह इतना अधिक घना हो उठा, अज्ञान और अन्धकार में डूब हम इतने निश्चेष्ट और महत्वाकांक्षा-रहित हो गये कि भगवत्प्रेरित महापुरुषों के उदय होने पर भी वह अन्धकार पूर्णतः तिरोहित नहीं हुआ। तब सूर्य भगवान् ने रजोगुणजनित प्रवृत्ति द्वारा देश की रक्षा करने का संकल्प किया।

जाग्रत रजःशक्ति के प्रचण्ड रूप से कार्यशील होने पर तम पलायनोद्यत हो जाता है परन्तु दूसरी ओर से स्वेच्छाचार, कुप्रवृत्ति और उद्दाम उच्छृंखला आसुरी भावों के घुस आने की आशंका बनी रहती है। रजःशक्ति यदि अपनी-अपनी प्रेरणा से उन्मत्तता की विशाल प्रवृत्ति के उदर-पूरण को ही लक्ष्य बना कार्य करे तो इस आशंका के लिए यथेष्ट कारण है। उच्छृंखल भाव से स्वपथगामी होने पर रजोगुण अधिक काल तक नहीं टिक सकता, उसमें क्लान्ति आ जाती है, तमस् आ जाता है, प्रचण्ड तूफान के बाद आकाश निर्मल और परिष्कृत ना होकर मेघाच्छन्न और वायुस्पन्दनरहित हो जाता है। राष्ट्रविप्लव के बाद फ्रांस की यही दशा हुई। उस राष्ट्र-विप्लव में रजोगुण का प्रचण्ड प्रादुर्भाव हुआ था, विप्लव के अन्त में तामसिकता का अल्पाधिक पुनरुत्थान, पुनः

राष्ट्रविप्लव, पुनः क्लान्ति, शक्तिहीनता, नैतिक अवनति – यही है गत वर्षों के फ्रांस का इतिहास। जितनी बार साम्य-मैत्री-स्वाधीनतारूपी आदर्शजनित सात्त्विक प्रेरणा फ्रांस के प्राणों में जगी, उतनी ही बार क्रमशः रजोगुण प्रबल हो, सत्त्वसेवा-विमुख आसुरी भाव में परिणत हो स्वप्रवृत्ति की पूर्ति के लिए सचेष्ट हुआ। फलतः तमोगुण के पुनः आविर्भाव से फ्रांस अपनी पूर्वसञ्चित महाशक्ति को खो निर्मल विषय अवस्था में, हरिश्चन्द्र की भाँति ना स्वर्ग में ना मर्त्य में, स्थित है। ऐसे परिणाम से बचने का एकमात्र उपाय है प्रबल रजःशक्ति को सत्त्व की सेवा में नियुक्त करना। यदि सात्त्विक भाव जाग्रत होकर रजःशक्ति का परिचालन करे तो तमोगुण के पुनः प्रादुर्भाव होने का भय नहीं रह जाता और उद्दाम शक्ति भी श्रृंखलित और नियन्त्रित हो उच्च आदर्श के वश हो देश और जगत् का हितसाधन करती है। सत्त्व की वृद्धि का साधन है धर्मभाव– स्वार्थ को डुबा परमार्थ- समस्त जीवन को एक महान् और पवित्र यज्ञ में परिणत कर देना। गीता में कहा है कि सत्त्व और रजः दोनों मिलकर ही तम का नाश करते हैं, अकेला सत्त्व कभी तम को पराजित नहीं कर सकता। इसीलिए भगवान् ने सम्प्रति धर्म का पुनरुत्थान कर, तथा हमारे अन्तर्निहित सत्त्व को जगा, रजःशक्ति को सारे देश में फैला दिया है। राममोहन राय प्रभृति धर्मोपदेश महात्माओं ने सत्त्व को पुनरुद्दीपित कर नवयुग प्रवर्तित किया। उन्नीसवीं शताब्दी में धर्मजगत् में जिनती जागृति हुई है उतनी राजनीति और समाज में नहीं हुई। क्योंकि क्षेत्र प्रस्तुत नहीं था, अतएव प्रचुर परिमाण में बीज बोने पर भी अंकुर दिखाई नहीं दिया। इसमें भी भारतवर्ष पर भगवान् की दया और प्रसन्नता ही दिखायी देती है। क्योंकि राजसिक भाव से उत्पन्न जो जागरण होता है वह कभी स्थायी या पूर्ण कल्याणप्रद नहीं हो सकता। इससे पहले जाति के अन्तर में थोड़ा-बहुत ब्रह्मतेज का उद्दीपन होना आवश्यक है। इसीलिए इतने दिनों तक रजःशक्ति की धारा रुकी रही। 1905 ई. में रजःशक्ति का जो विकास हुआ वह है सात्त्विक भाव से पूर्ण। अतः इसमें जो उद्दाम भाव दिखाई पड़ा है उससे भी आशंका का कोई विशेष कारण नहीं, क्योंकि यह रजःसत्त्व का खेल है; इस खेल

गीता में कहा है कि सत्त्व और रजः दोनों मिलकर ही तम का नाश करते हैं, अकेला सत्त्व कभी तम को पराजित नहीं कर सकता। इसीलिए भगवान् ने सम्प्रति धर्म का पुनरुत्थान कर, तथा हमारे अन्तर्निहित सत्त्व को जगा, रजःशक्ति को सारे देश में फैला दिया है।

में जो कुछ उद्दाम या उच्छृंखलभाव है, वह शीघ्र ही नियमित और श्रृंखलित हो जायेगा। किसी बाह्य शक्ति द्वारा नहीं, बल्कि भीतर जो ब्रह्मतेज, जो सात्त्विक भाव जाग्रित हुआ है उसी से यह वशीभूत और नियमित होगा। धर्मभाव के प्रचार से हम उस ब्रह्मतेज और सात्त्विक भाव का पोषण-भर कर सकते हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि परमार्थ में समस्त शक्ति लगा देना सत्त्वोद्रेक का एक उपाय है। हमारे राजनीतिक जागरण में इस भाव का यथेष्ट प्रमाण पाया जाता है। परन्तु इस भाव की रक्षा करना कठिन है। यह व्यक्ति के लिए जितना कठिन है, राष्ट्र के लिए उससे भी अधिक कठिन है। परमार्थ में स्वार्थ अलक्षित रूप से घुस आता है और यदि हमारी बुद्धि शुद्ध ना हो तो हम ऐसे भ्रम में पड़ सकते हैं कि परमार्थ की दुहाई दें और स्वार्थ को आश्रय बना, हम परहित, देशहित और मनुष्यजाति के हित को डुबा दें और फिर भी अपने भ्रम को समझ ना सकें। भगवत्सेवा सत्त्वोद्रेक का दूसरा उपाय है। परन्तु इस मार्ग में भी परिणाम विपरीत हो सकता है। भगवत्सान्निध्यरूपी आनन्द मिलने पर हममें सात्त्विक निश्चेष्टता जनम सकती है, उस आनन्द का स्वाद लेते-लेते हम दुःख-कातर देश के प्रति तथा मानवजाति की सेवा के प्रति उदासीन हो सकते हैं। यही है सात्त्विक भाव का बन्धन। जिस प्रकार राजसिक अहंकार होता है उसी प्रकार सात्त्विक अहंकार भी। जैसे पाप मनुष्य को बन्धन में डालता है वैसे ही पुण्य भी। सभी वासनाओं से शून्य हो, अहंकार का त्याग कर, भगवान् को आत्म-समर्पण किये बिना पूर्ण स्वाधीनता नहीं मिलती।

इन दोनों अनिष्टों को त्यागने के लिए सबसे पहले आवश्यकता है विशुद्ध बुद्धि की। देहात्मक बुद्धि का वर्जन कर मानसिक स्वाधीनता का अर्जन करना ही है बुद्धि-शोधन की पूर्ववर्ती अवस्था। मन के स्वाधीन होने पर वह जीव के अधीन हो जाता है और फिर मन को जीत कर और बुद्धि के आश्रय में जा मनुष्य स्वार्थ के पंजे से बहुत-कुछ छुटकारा पा जाता है। इस पर भी स्वार्थ हमें सम्पूर्णतः नहीं छोड़ता। अन्तिम स्वार्थ है मुमुक्षुत्व, परदुःख भूल कर अपने ही आनन्द में विभोर रहने की इच्छा। इसे भी त्यागना होगा। समस्त भूतों में नारायण की उपलब्धि कर उन्हीं सर्वभूतस्थ नारायण की सेवा है इसकी दवा। यही है सत्त्वगुण की पराकाष्ठा। इससे भी उच्चतर अवस्था है और वह है सत्त्वगुण का भी अतिक्रमण कर गुणातीत हो पूर्णतः भगवान् का आश्रय ग्रहण करना। गुणातीत अवस्था गीता में ऐसे वर्णित है :

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाअनुपश्यति।

गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोअधिगच्छति॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोअमृतमश्नुते ॥

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।

न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि ना निवृत्तानि काङ्क्षति।

उदासीनवदासीनो गुणैर्या ना चिवाल्यते।

गुणाः वर्तन्त इत्येव योअवतिष्ठति नेङ्गते ॥

समदुः खसुखः स्वस्थः

समलोष्ठाश्मकाञ्चनः।

तुल्यप्रियाप्रियो

धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥

मानापमानयोस्तुल्ययो मित्रारिपक्षयोः।

सर्वारम्भ्परित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥

माँ च यो व्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

"जब जीव साक्षी हो गुणत्रय को अर्थात् भगवान की त्रैगुण्यमयी शक्ति को ही एकमात्र कर्ता के रूप में देखता है तथा इस गुणत्रय के भी परे शक्ति के प्रेरक ईश्वर को जान पाता है तब वह भागवत सार्धम्य लाभ करता है। तब देहस्थ जीव स्थूल और सूक्ष्म दोनों देहों से सम्भूत गुणत्रय का अतिक्रमण कर जन्म-मृत्य-जरा-दुःख से विमुक्त हो अमरत्व का भोग करता है। सत्त्वजनित ज्ञान, रजोजनित प्रवृत्ति या तमो जनित निद्रा, निश्चेष्टता और भ्रमरूपी मोह के होने पर वह क्षुब्ध नहीं होता, गुणत्रय के आगमन और निर्गमन में समान भाव रखकर उदासीन की भाँति वह स्थिर रहता है, गुणावलि उसे विचलित नहीं कर पाती, इसे गुणों की स्वधर्मजात वृत्ति मान, वह दृढ़ रहता है। जिसके लिए सुख और दुःख समान हैं, प्रिय और अप्रिय समान हैं, निन्दा और स्तुति समान हैं, सोना और मिट्टी दोनों ही पत्थर के समान हैं, जो धीर-स्थिर, अपने ही अन्दर अटल है, जिसके लिये मान और अपमान दोनों एक ही बात हैं, जिसे मित्रपक्ष और शत्रुपक्ष दोनों ही समान भाव से प्रिय हैं, जो स्वयं प्रेरित हो किसी कार्य का आरम्भ नहीं करता, सारे कर्म भगवान् को अर्पण कर उन्हीं की प्रेरणा से करता है, उसे ही कहते हैं गुणातीत। जो निर्दोष भक्तियोग द्वारा मेरी सेवा करता है वही इन तीनों गुणों का अतिक्रमण कर ब्रह्म-प्राप्ति के उपयुक्त होता है।"

यह गुणातीत अवस्था सबके लिए साध्य ना होने पर भी इसकी पूर्ववर्ती अवस्था सत्त्वगुणप्रधान पुरुष के लिए असम्भव नहीं। सात्त्विक अहंकार का त्याग कर जगत् के सभी कार्यों में भगवान् की त्रैगुण्यमयी शक्ति की लीला को देखना है इसका सबसे पहला उपक्रम। यह बात समझ सात्त्विक कर्ता कर्तृत्वाभिमान त्याग, भगवान् को सम्पूर्ण आत्मसमर्पित हो कर्म करता है।

गुणत्रय और गुणातीत्य के सम्बन्ध में मैंने जो कुछ कहा, वह है गीता की मूल बात। परन्तु यह शिक्षा साधारणतया अंगीकृत नहीं

हुई, वह प्रायः सात्त्विक गुण का अनुशीलन है। रजोगुण का आदर तो इस देश में क्षत्रिय जाति के लोप होने के साथ-ही-साथ लुप्त हो गया। यद्यपि राष्ट्रीय जीवन में रजःशक्ति का भी अत्यन्त प्रयोजन है। इसीलिए आजकल गीता की ओर लोगों का मन आकृष्ट हो रहा है। गीता की शिक्षा ने पुरातन आर्यशिक्षा को आधार बनाकर भी उसका अतिक्रमण किया। गीतोक्त धर्म रजोगुण से भय नहीं खाता, उसमें रजःशक्ति को सत्त्व की सेवा में नियुक्त करने का पथ निर्देशित है, प्रवृत्तिमार्ग में मुक्ति का उपाय प्रदर्शित है। इस धर्म का अनुशीलन करने के लिए राष्ट्र का मन किस प्रकार तैयार हो रहा है इस बात को पहले-पहल मैंने जेल में ही हृदयंगम किया। अभी तक स्त्रोत निर्मल नहीं हुआ है, अभी भी वह कलुषित और पंकिल है, किन्तु इस स्त्रोत का अतिरिक्त वेग जब कुछ प्रशमित होगा तब उसके अन्दर छिपी विशुद्ध शक्ति का निर्दोष कार्य होगा।

जो मेरे साथ बन्दी थे और एक ही अभियोग में अभियुक्त थे, उनमें से बहुत-से निर्दोष समझ कर छोड़ दिये गये हैं, बाकी लोगों को यह कहकर सजा दी गयी है कि वे षड्यन्त्र में लिप्त थे। मानव समाज में हत्या से बढ़कर और कोई अपराध नहीं हो सकता। राष्ट्रीय स्वार्थ से प्रेरित हो जो हत्या करता है, उसका व्यक्तिगत चरित्र चाहे कलुषित ना भी हो, किन्तु सामाजिक हिसाब से, अपराध का गुरुत्व कम नहीं हो जाता। यह भी स्वीकार करना होगा कि अन्तरात्मा पर हत्या की छाया पड़ने से मन पर मानों रक्त का दाग बैठ जाता है, उसमें क्रूरता का सञ्चार होता है। क्रूरता बर्बरोचित गुण है; मनुष्य उन्नति के क्रमविकास में जिन गुणों से धीरे-धीरे दूर हो रहा है, उनमें क्रूरता प्रधान है। इसका यदि पूर्ण रूप से त्याग कर दिया जाये तो मानवजाति की उन्नति के मार्ग में एक विघ्टनकारी कंटक समूल नष्ट हो जायेगा। अभियुक्तों का दोष मान लेने पर यही समझना होगा कि यह रजःशक्ति की क्षणिक उद्दाम उच्छृंखला-भर है। उनमें एक ऐसी सात्त्विक शक्ति निहित है कि इस क्षणिक उच्छृंखलता द्वारा देश का स्थायी अमंगल होने की कोई भी आशंका नहीं।

अन्तर की जिस स्वाधीनता की बात मैं ऊपर कह आया हूँ वह स्वाधीनता मेरे साथियों का स्वभावसिद्ध गुण है। जिन दिनों हम सब एक संग एक बड़े-से दालान में रखे गये थे, उन दिनों मैंने उनके आचरण और मनोभाव को विशेष मनोयोगपूर्वक लक्ष्य किया। केवल दो व्यक्तियों को छोड़ अन्य किसी के भी मुँह या जबान पर भय की छाया तक देखने को नहीं मिली। प्रायः सभी तरुण और वयस्क थे, बहुत-से अल्पवयस्क बालक थे; जिस अपराध में वे पकड़े गये थे वह प्रमाणित होने पर, उसका दण्ड इतना भीषण है कि कल्पना मात्र से दृढ़मति पुरुष

भी विचलित हो जाये। इसके अतिरिक्त, इस मुकद्दमे में रिहाई पाने की आशा भी ये नहीं रखते थे। विशेषतः, मजिस्ट्रेट की अदालत में गवाहों और लिखित गवाहियों का जैसा विस्तृत आयोजन होने लगा उसे देखकर कानून से अनभिज्ञ व्यक्ति के मन में भी सहज ही यह धारणा उपजने लगी कि निर्दोष के लिए भी इस फंदे से निकलने का उपाय नहीं। फिर भी उनके चेहरे पर भय या विषाद के बदले थी केवल प्रफुल्लता, सरल हास्य, अपनी विपत्ति को भूल मुँह में थी धर्म और देश की ही बात। हमारे वार्ड में, प्रत्येक बन्दी के पास दो-चार किताबें होने के कारण एक छोटी-सी लाइब्रेरी बन गयी थी। इस लाइब्रेरी की अधिकांश किताबें थीं धर्म सम्बन्धी – गीता, उपनिषद्, विवेकानन्द – पुस्तकावली, रामकृष्ण-कथामृत और जीवनचरित्र, पुराण, स्तोत्रमाला, ब्रह्म-संगीत इत्यादि। अन्य पुस्तकों में थीं बंकिम-ग्रन्थावली, स्वदेशी गान सम्बन्धी बहुत-सी छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ, यूरोपीय दर्शन, इतिहास और साहित्य की थोड़ी-बहुत पुस्तकें। प्रातः काल कोई साधना करने बैठता, कोई पुस्तकें पढ़ता तो कोई धीरे-धीरे बातें करता। प्रातः काल की इस शान्तिमयी नीरवता में कभी-कभी हंसी की लहरें ही उठतीं। जब कभी कचहरी का दिन नहीं होता तब कुछ लोग सोते, कुछ खेलते – जब जो खेल सामने आ जाये, किसी खास खेल के लिए किसी में कोई आग्रह नहीं। किसी दिन एक वृत्त में बैठ कोई शान्त खेल होता तो किसी दिन दौड़-धूप या कूद-फाँद; कुछ दिन फुटबॉल ही चला, यह फुटबॉल निःसन्देह किसी अपूर्व उपकरण का बना होता था। कुछ दिन आँख-मिचौनी चली। कभी-कभी अलग-अलग दल बनाकर एक ओर जुजुत्सु की शिक्षा होती तो दूसरी

> ना मालूम कहाँ से एक स्त्रोत आ सभी को बहा ले गया। जिसने कभी भगवान् का नाम नहीं लिया था वह भी साधना करना सीख गया। उस परम दयालु की दया का अनुभव कर मन आनन्दमय हो उठा। अनेक दिनों के अभ्यास से योगियों की जो अवस्था होती है, वह इन बालकों की दो-चार महीने की साधना से ही हो गयी। रामकृष्ण परमहंस ने एक बार कहा था, "अभी तुम लोग क्या देखते हो – यह तो कुछ भी नहीं, देश में एक ऐसा स्त्रोत आ रहा है जिसके प्रभाव से अल्पवयस्क बालक भी तीन दिन साधना करके सिद्धि पायेंगे।" इन बालकों को देखकर उनकी भविष्यवाणी की सफलता में जरा भी सन्देह नहीं रह जाता।

ओर ऊँची कूद और लम्बी कूद तथा एक ओर ड्राफ्ट या चौपड़। दो-चार गम्भीर प्रौढ़ व्यक्तियों को छोड़ प्रायः सभी बालकों के अनुरोध पर इन खेलों में शरीक होते। मैंने देखा कि इनमें जो बड़े-बूढ़े थे, उनका स्वभाव भी बालकों जैसा ही था। शाम को गाने की महफ़िल जुटती। गानविद्या में निपुण उल्लास, शचीन्द्र और हेमदास के चारों ओर बैठ हम सभी गाना सुनते। स्वदेशी या धर्म के गानों के अतिरिक्त और किसी भी तरह का गाना नहीं होता था। किसी-किसी दिन केवल आमोद करने की इच्छा से उल्लासकर के हंसी के गाने, अभिनय, दूरागत-शब्दानुकरण (Ventriloquism), नकल उतारने या गंजेड़ियों की गप द्वारा शाम का समय बीतता।....

मुकद्दमे में कोई भी जी नहीं लगता था, सभी धर्म या आनन्द में दिन बिताते। यह निश्चन्त भाव कठिन कुक्रियाभ्यस्त हृदय के लिए असम्भव है; इनके अन्दर काठिन्य, क्रूरता, कुक्रियाशक्ति, कुटिलता लेशमात्र भी नहीं थी। क्या हंसी, क्या बातचीत, क्या खेल-कूद इनका सब कुछ था आनन्दमय, पापहीन और प्रेममय।

इस मानसिक स्वाधीनता का फल शीघ्र ही विकसित होने लगा। इस प्रकार के क्षेत्र में ही धर्म-बीज बोने से सर्वांगसुन्दर फल सम्भव है। ईसामसीह ने कुछ बालकों को दिखाते हुए अपने शिष्यों से कहा था, "जो इन बालकों की तरह हैं वे ही ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं।" ज्ञान और आनन्द हैं सत्वगुण के लक्षण। जो दुःख को दुःख नहीं समझते, जो सभी अवस्थाओं में आनन्दित और प्रफुल्लित रहते हैं, वे ही हैं योगी। निर्जन कारागार में प्रवृत्ति का परिपोषक कुछ भी नहीं होता। ऐसी अवस्था में असुर-मन चिर-अभ्यस्त रजःशक्ति की ख़ुराक के अभाव में आहत व्याघ्र की न्याईं स्वयं अपना ही नाश करने लगता है। पाश्चात्य कविगण जिसे तीव्र सन्ताप से जी को जलाना (eating one's own heart) कहते हैं, ठीक वही अवस्था होती है। भारतवासी का मन इस प्रकार की निर्जनता में, इस बाह्य कष्ट की अवस्था में भी चिरन्तन आकर्षण से आकृष्ट हो भगवान् की ओर दौड़ पड़ता है। हमारी भी यही अवस्था हुई। ना मालूम कहाँ से एक स्त्रोत आ सभी को बहा ले गया। जिसने कभी भगवान् का नाम नहीं लिया था वह भी साधना करना सीख गया।

उस परम दयालु की दया का अनुभव कर मन आनन्दमय हो उठा। अनेक दिनों के अभ्यास से योगियों की जो अवस्था होती है, वह इन बालकों की दो-चार महीने की साधना से ही हो गयी। रामकृष्ण परमहंस ने एक बार कहा था, "अभी तुम लोग क्या देखते हो – यह तो कुछ भी नहीं, देश में एक ऐसा स्त्रोत आ रहा है जिसके प्रभाव से अल्पवयस्क बालक भी तीन दिन साधना

करके सिद्धि पायेंगे।" इन बालकों को देखकर उनकी भविष्यवाणी की सफलता में जरा भी सन्देह नहीं रह जाता। ये मानों उसी प्रत्याशित धर्म-प्रवाह के मूर्तिमान पूर्व-परिचय हों। इस सात्त्विक-भाव की तरंग कठघरे तक पहुँच, चार-पाँच को छोड़ बाकी सबके हृदय को महानन्द से परिप्लावित कर देती थी। जिसने एक बार भी इसका आस्वादन किया है वह इसे कभी भूल नहीं सकता ना कभी किसी दूसरे आनन्द को इस आनन्द के समान ही स्वीकार कर सकता है। यही सात्त्विक भाव है देश की उन्नति की आशा। भातृभाव, आत्मज्ञान और भगवत्प्रेम जिस तरह सहज ही भारतवासी के मन पर अधिकार कर कार्य में प्रकट होते हैं उसी सहज भाव से और किसी भी राष्ट्र में उनका प्रकट होना सम्भव नहीं। इसके लिए चाहिये तमोवर्जन, रजोदमन, सत्त्वप्रकाश। भगवान् की गूढ़ अभिसन्धि से इसी की तैयारी हो रही है भारतवर्ष में।

खुश रहो !

श्री माँ

प्रसन्न हृदय : हँसता हुआ, शांत, पूरा खुला, बिना किसी प्रतिच्छाया के।

भगवान् के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने का सबसे अच्छा तरीका है बस प्रसन्न रहना। तुम्हें यह कभी न भूलना चाहिये कि तुम नाटकीय बनने की अपेक्षा चुपचाप प्रसन्न रहकर ज्यादा सहायक बन सकते हो।

प्रसन्न रहने की कोशिश करो-तुम तुरंत प्रकाश के अधिक निकट होगे।

वर दे! हम अपनी प्रसन्नता केवल भगवान् में ही ढूँढें।

वास्तव में यह प्रसन्नता केवल भगवान् से प्रेम करना है क्योंकि भगवान् हमेशा उसके साथ होते हैं।

परमोच्च प्रसन्नता है भगवान् के सच्चे सेवक बनना।

इस योग का उचित स्वभाव है सात्त्विक प्रसन्नता और स्थिरता और विश्वास...यह (प्रसन्नचित्तता) चैत्य को कार्य करने के लिये तुम्हें उचित अवस्था में बनाये रखती है और इस बात को जाने बिना तुम आध्यात्मिक मनोवृत्ति के लिये एकदम से उचित भाव विकसित कर लेते हो।

भय को जीतो !

- श्रीमाँ

हमारी साधना एक ऐसी अवस्था में पहुँच गयी है जहाँ पर हम अधिकांश में अवचेतना के क्षेत्र में और निश्चेतना तक के क्षेत्र में कार्य कर रहे है। इसके परिणामस्वरूप भौतिक नियति ने–शरीर से संबंध रखनेवाले कठोर नियमों ने एक प्रधान स्थान ग्रहण कर लिया है और हमारे मार्ग में बहुत अधिक कठिनाइयाँ उत्पन्न कर दी हैं। इन कठिनाइयों का मुकाबला हमें बहुत अधिक साहस और दृढ़ निश्चय के साथ करना होगा। प्रत्येक अवस्था में, चाहे जो कुछ घटित हो और चाहे जो कुछ तुम करो, कभी तुम भय को अपने पास मत फटकने दो। अगर उसका जरा भी स्पर्श हो तो तुरंत उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया करो और सहायता के लिए पुकारो।

तुम्हें यह अवश्य सीखना चाहिये कि तुम शरीर नहीं हो और शरीर के साथ तुम्हें इस तरह बर्ताव करना चाहिये मानो वह एक नन्हा-सा बच्चा हो जिसे यह समझा देने की आवश्यकता है कि उसे कभी भय नहीं करना चाहिये।

रविन्द्रनाथ ठाकुर

हे, अंतर्यामी ! तू तो जानता ही है-

मैं भला क्या गर्वित होकर
तेरा नाम ले सकता हूँ?
तेरा नाम मेरे मुख पर शोभा
देगा क्या?
जब सब लोग मेरी हँसी उड़ाते
हैं,
तो मैं सोचता हूँ-
मेरे कंठ से क्या तेरा नाम ही
सुनाई देता है?
मैं तुझसे दूर अकेला हूँ, यह
मैं जानता हूँ।
तेरे नाम-संकीर्तन में कहीं
मेरा परिचय खुल ना जाये-
इसी लज्जा से मैं मर-मर
जाता हूँ।
अहंकार के मिथ्या से मुझे
दया कर बचा ले!
मुझे मेरे योग्य स्थान पर ही
रहने दे।
दूसरों की आलोचना-दृष्टि से
मुझे हटा ले
और अपने नत-नयनों का
वरदान दे!
मेरी पूजा केवल तेरी दया
प्राप्त करने के निमित्त है,
दूसरे की दृष्टि में उस पूजा को
मान मिले, ना मिले!
धूलि में बैठा-बैठा मैं नित्य
नये अपराध
करता हुआ भी तुझे ही
पुकारूँ!
गर्वित होकर तेरा नाम भला
मैं ले सकता हूँ?
तू तो जानता ही है!

साहस

श्रीमाँ

मैं तुम्हें वीर विभीषण की कहानी सुनाती हूँ। उसने एक ऐसे खतरे का सामना किया था जो मृत्यु के खतरे से भी अधिक बड़ी थी। वह एक राजा के क्रोध के सामने डट गया था और उसने उसे एक ऐसी विवेकपूर्ण सलाह दी जिसे देने का किसी और को साहस नहीं हुआ था।

लंका का दैत्य राजा दस सिरों वाला रावण कहलाता था। वह श्री सीताजी को बलपूर्वक अपने रथ में स्थित अपने महल में ले गया, जिस महल और बाग में राजकुमारी सीता को बंद कर दिया गया था वे बड़े विशाल और मोहक थे, फिर भी वे दुःखी थीं; दिन रात रोती थीं। उन्हें यह भी पता नहीं था कि वे अपने स्वामी राम को पुनः देख सकेंगी या नहीं। यशस्वी राम को वानर-राज हनुमान से पता चला गया कि उनकी स्त्री किस स्थान पर कैद करके रखी गयी है। वे अपने सुशील भाई लक्ष्मण तथा वीरों की एक बड़ी सेना के साथ बन्दिनी सीता की सहायता के लिये चले।

जब राक्षस-राज रावण को राम के आने का पता चला तो वह डर के मारे कांपने लगा। अब उसे दो प्रकार की सलाह मिली। उसके राज-दरबारियों का एक झुंड उसके सिंहासन के चारों और इकटठा हो गया और कहने लगा, "सब ठीक है महाराज ! डर की कोई बात नहीं। आपने देवताओं और असुरों दोनों को जीत लिया है; राम और उसके साथी हनुमान के बंदरों को जीतने में कोई कठिनाई नहीं होगी"

ज्यों ही ये वाचाल सलाहकार राजा के पास से हटे, उसके भाई विभीषण ने वहां प्रवेश किया और उसके आगे घुटने टेककर उसके पैर चूमें। फिर उठकर वह सिंहासन की दायीं ओर बैठ गया और बोला-

"मेरे भाई, यदि तुम सुख से रहना चाहते हो या लंका के सुन्दर द्वीप के सिंहासन की रक्षा करना चाहते हो तो सुन्दरी सीता को वापस कर दो, क्योंकि वह दूसरे की पत्नी है। राम के पास जाओ और उनसे क्षमा मांगो। वे तुम्हें निराश नहीं करेंगे। इतने दुःसाहसी और अभिमानी न बनो"

एक और बुद्धिमान् व्यक्ति माल्यवान ने भी यह सुनी और वह प्रसन्न हुआ। उसने राक्षस-राज से आग्रहपूर्वक कहा, "अपने भाई की बात पर विचार करो, क्योंकि उसने सत्य कहा है" "तुम दोनों ही दुष्ट आशय वाले हो", राजा ने उत्तर दिया, "कारण, तुम मेरे शत्रुओं का पक्ष लेते हो।"

उन दस सिरों की आँखों से ऐसे क्रोध की चिंगारियां निकलने लगीं कि माल्यवान् तो डरके मारे वहाँ से भाग गया। पर विभीषण अपने आत्मबल से वहीं डटा रहा और बोला, "राजन् मनुष्य के हृदय में विवेक और अविवेक दोनों का निवास है। जिसके हृदय में विवेक होता है उसके लिये जीवन सुखकारक है; यदि वहां अविवेक का राज्य हो तो फिर दुःख ही दुःख है। भाई मुझे डर है कि तुम्हारे हृदय में अविवेक अड्डा जमाये हुए है क्योंकि जो तुम्हें बुरा परामर्श देते हैं तुम उन्हीं की बात पर कान धरते हो। वे तुम्हारे सच्चे मित्र नहीं हैं" इतना कह कर वह चुप हो गया और उसने राजा के पांव फिर से चूमे।

रावण चिल्लाया,

"दुष्ट! तू भी मेरे शत्रुओं में से है! बस, ऐसे मूर्खतापूर्ण शब्द और मत बोल। ऐसे शब्द तू उन साधू सन्यासियों को जाकर सुना जो जंगलों में रहते हैं, उससे मत कह जिसने युद्ध में अपने सभी शत्रुओं पर विजय प्राप्त की है।" ऐसा कहते-कहते उसने अपने वीर भाई विभीषण को एक लात जमा दी। मन में व्यथित होकर विभीषण उठ बैठा राजा का घर छोड़ कर चला गया।

उसके मन में भय नहीं था, इसलिये उसने सब कुछ रावण से साफ-साफ कह दिया था, और अब, जब कि उस दस सिरवाले ने उसकी बात नहीं सुननी चाही तो वह चले जाने के सिवाय और कर भी क्या सकता था।

विभीषण का यह कार्य शारीरिक साहस का कार्य था क्योंकि वह अपने भाई की ठोकरों से भयभीत नहीं हुआ। पर साथ ही यह एक मानसिक साहस का भी कार्य था। वे बातें, जो अन्य राजदरबारियों ने उतना शारीरिक बल रखते हुए भी अपने मुँह से नहीं निकाली थीं, उन्हें राजा से कहने में उसे ज़रा संकोच नहीं हुआ। यह आत्मा का साहस है जिसे हम नैतिक बल कहते हैं।

ऐसा साहस इजराइल के नेता मूसा में भी था। उन्होंने मिस्त्र देश के राजा फारो से यह मांग की थी कि वह पीड़ित यहूदी लोगों को स्वतंत्र कर दे। यही साहस पैगम्बर मुहम्मद में था जिन्होंने अपने धार्मिक विचार अरब निवासियों पर प्रकट किये थे। उन लोगों के मृत्यु का डर दिखाने पर भी उन्होंने चुप रहना अस्वीकार कर दिया।

गौतम बुद्ध में भी ऐसा ही साहस था। इन्होंने भारतवासियों को एक नवीन और उच्च मार्ग दिखाया और बोधिवृक्ष के नीचे दुष्ट प्रेतात्माओं द्वारा सताये जाने पर भी डर नहीं माना।

यही साहस ईसामसीह में था जिन्होंने लोगों को उपदेश दिया एक- दूसरे से प्रेम करो। ना वे येरुशलम के धर्माचार्यों से डरे जिन्हें उनकी बात नहीं भाती थी। और ना ही रोम के लोगों से जिन्होंने यह शिक्षा

सुन कर उन्हें सूली पर चढ़ा दिया था। हमने अभी साहस की तीन श्रेणियों, तीन मात्राओं का निरूपण किया है। शारीरिक साहस, जो अपनी रक्षा के लिये प्रयुक्त होता है। वह साहस, जो मित्र, पड़ोसी और कष्ट में पड़ी मातृभूमि के लिये दिखाया जाता है।

अंत में वह नैतिक साहस आता है जो अन्यायी मनुष्यों का सामना करना सिखाता है-चाहे वे कितने ही बलशाली क्यों न हों-और सच्चाई और न्याय की आवाज उनके कानों तक पहुँचाता है।

❀

जीवन एक गति है, वह एक प्रयास है, आगे की ओर बढ़ना है, पर्वत पर आरोहण है, ऊँची जानकारियों तथा भावी सिद्धियों के प्रति अभियान है। विश्राम करने की इच्छा करने से अधिक खतरनाक और कोई चीज नहीं है। सच्चा विश्राम भागवत कृपा पर पूर्ण विश्वास, कामनाओं का अभाव और अहंकार के ऊपर विजय है।

श्रीमाँ

अभीप्सा की आग कैसे जलायें

डॉ. के. एन वर्मा

श्रीअरविन्द योग में अभीप्सा ही प्रमुख चीज है जो साधना को अंतिम मंजिल तक पहुँचाने में सहायक होती है। इस योग में जितनी भी बाधायें आती हैं और जितनी समस्यायें पैदा होती हैं उन सभी का एकमात्र हल हमारी अभीप्सा है जिसे निरंतर जलाये रखना आवश्यक होता है। इसी कारण योग साधना में इसे सबसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह अभीप्सा है क्या सबसे पहले इसे समझ लेना आवश्यक है।

अभीप्सा है क्या?

अभीप्सा वह आग है जो हमारे हृदय में अंतरात्मा को जगाने के लिये राख के नीचे दबी पड़ी है। ऋग्वेद में इसे 'अग्नि' नाम दिया गया है और जीवनरूपी यज्ञ को पूरा करने के लिये पहले ही मंत्र में ऋषि द्वारा इसका आह्वान किया गया है। उसे इस यज्ञ का होता व पुरोहित दोनों कहा गया है। अभीप्सा का तात्पर्य है भगवान् के लिये हृदय में उठी तीव्र प्यास, भूख या पुकार। जब यह प्रखर होती है तो सारी आकांक्षाओं, सारी माँगों और सारी संसारी इच्छाओं को नष्ट करती हुई केवल भगवान् की ओर एकाग्र दृष्टि से ताकती है। इसीलिये इसे आग कहा गया है। जब यह उद्दीप्त होती है तो दीपक की लौ बन जाती है जो बिना हिले-डुले अपने आराध्य के आगे की बाट जोहती है। यह हमेशा ऊपर को जलती है जिसका अर्थ है कि वह चेतना के ऊर्ध्व शिखर की ओर और केवल शिखर की ओर टकटकी लगाये ताकती है। अंतरात्मा या चैत्य पुरुष जब जागता है तो उसे भगवान् के बिना चैन नहीं पड़ती। उसे तब किसी अन्य चीज से रिझाया नहीं जा सकता, उसे किसी भी प्रकार से विपथ नहीं किया जा सकता। एक ही मंजिल, एक ही उद्देश्य और एक ही ऊर्ध्व दिशा की ओर उन्मुख होकर वह पुकारता है, देखता और जलता है। उसकी इस अग्निल दृष्टि का नाम ही अभीप्सा है। उसकी तड़पती अभ्यर्थना का तात्पर्य ही अभीप्सा है; सागर को पी जाने वाली प्यास की परिभाषा ही अभीप्सा है और आकाश को चीर देने वाली टेर का अर्थ ही अभीप्सा है।

लेकिन अभीप्सा विरह की वेदना नहीं है। अभीप्सा और विरह की व्याकुलता में बहुत बड़ा अंतर है। भक्तों में भगवान् के लिये विरह की वेदना होती है उसके दर्शन के लिये उसे पाने के लिये। न पाने पर वह तड़पता है, छटपटाता है, व्याकुल होता है। खाना-पीना-सोना तक छोड़ देता है। जीवन

को सुख व आराम पहुँचाने वाले साधनों तक का परित्याग कर देता है। वह रोता है, विरह के गीत गाता है। ऐसा अनुभव करता है कि उसकी हीनता के कारण उसके इष्ट ने उसको छोड़ दिया है या पापों के कारण उससे मिलना नहीं चाहता। वह हठ करता है कि जब तक उसे दर्शन नहीं मिलेगा, बिस्तर पर नहीं सोयेगा, पेट भर भोजन नहीं करेगा जीवन की सुविधाओं का उपयोग नहीं करेगा, अपने शरीर को कष्ट और यातनायें देगा जिससे भगवान् को उस पर दया आये और अंततोगत्वा उसे दर्शन देने के लिये बाध्य हो जायें। इस विरह में वह वेदना का अनुभव करता है; तपस्या कर इन्द्रियों को सुखाने का प्रयास करता है और संसार को भव सागर मानकर उससे उदासीन होने का बराबर ही प्रयास करता है। वह उदास होता है और इस उदासी में अपने भीतर एक रिक्तता का अनुभव करता है। भक्त की अनेक अवस्थाओं में से विरह एक अवस्था होती है।

श्रीअरविन्द योग में जिस अभीप्सा को सबसे अधिक महत्व दिया गया है वह ना विरह है ना वियोग और ना ही सांसारिक जीवन के प्रति उदासीनता या नीरसता। यह अभीप्सा प्रेम से परिपूर्ण समर्पण है। यह ऐसी पुकार है जिसके साथ में उत्तर की प्रभापूर्ण ज्योति भी सम्मिलित है। 'जो भगवान् को चुनता है वह भगवान् द्वारा पहले ही चुन लिया गया होता है' यह विश्वास साधक की चेतना में विद्यमान होता है। उसकी अभीप्सा उसके इष्ट के अनुराग में भरी होती है; उसका हृदय उसके प्रेम से छलकता रहता है। यह प्रेम और अधिक प्रेम के लिये व्याकुल होता है। उसे जिस प्रेम के मिठास की अनुभूति हो रही है उसे वह अनंतता तक बढ़ा ले जाना चाहता है। उसका प्याला खाली नहीं है पर अपने प्याले में वह समुद्र को भर लेना चाहता है। अभीप्सा वह प्रेमपूर्ण पुकार है जिसमें पहले से ही थोड़ा सा भगवान् पगा हुआ है। हृदय की जीभ में मधुरता है, परम प्रेम की मिठास और ज्योतिर्मयता का छोटा सा प्रकाश है, दिया जल रहा है पर वह शाश्वत के परमानन्द में हिलोरना चाहता है, अपने दिये को सूर्य में बदलता चाहता है। वह भगवान् को जब तब स्पर्श कर रहा है पर वह उसके आलिंगन में बँध जाना जाना चाहता है या स्वयं वह भगवान् हो जाना चाहता है जो कि है वह पहले से ही पर जिसकी अनुभूति उसे अभी तक नहीं हो पाई है। साधक उसी की माँग करता है जो वह पहले से ही है। वह जो नहीं है उस पर ना तो वह विश्वास कर सकता है और ना उसे प्राप्त कर सकता है। अभीप्सा के पीछे एक ठोस विश्वास होता है, अपनत्व का आभास होता है, प्रेम की एक प्रभा होती है। मिलन की पूर्वानुभूति होती है जिसके बल पर अभीप्सु आगे बढ़ता है। अभीप्सा एक सकारात्मक चीज होती है जो

माँग के साथ अपने आपमें उपलब्धि भी है। उपलब्धि इस अर्थ में कि जब अभीप्सा की आग में आँसुओं की धार लग जाती है तो आत्म-संतोष, एक दुर्लभ शांति और आनंद की अनुभूति से आंतर चेतना प्लावित हो जाती है। अभीप्सु ऐसी स्थिति में एकांत का कोना ढूँढ़ने लगता है। माँ इन आँसुओ को Godward emotion कहती हैं और साधना के मार्ग में इन्हें मूल्यवान मोती मानती हैं।

यह अभीप्सा कोरी भावुकता भी नहीं है। भावुकता तो प्राण की चीज है जो मानवीय संबंधों की लहरों को व्यक्त करती है व ऊपरी चेतना के उतार-चढ़ाव के कारण पैदा होती हैं। भगवान् की ओर उन्मुख भावनायें ही अभीप्सा को जन्म देती हैं। अभीप्सा भगवान् के सामीप्य को जब भी अनुभव करती है, उसमें कृतज्ञता के आँसू छलक उठते हैं। लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि ये आँसू आयें ही। यह केवल सामयिक और क्षणिक परिस्थिति होती है। कभी-कभी भावावेग में जब सारा शरीर स्पन्दित होने लगता है और इन स्पंदनों को रोक पाना संभव नहीं होता तो भीतर का आनन्द भरे घड़े की तरह फूट पड़ता है। तब ना कोई नियंत्रण काम देता, ना ही शिष्टता के नियम। इस उद्रेक को रोकना तब कोई बुद्धिमानी नहीं होती। लेकिन ऐसा कदाचित ही होता है। पूर्णयोग का साधक साधु-संतों की तरह रोता गाता नाचता नहीं है। रोना, गाना, नाचना अधिकतर प्राणिक आवेगों के ही लक्षण होते हैं जिसका अभीप्सा से कोई गहरा संबंध नहीं होता ।

सही अभीप्सा जलते दीपक की अडोल लौ होती है जिसके भीतर आत्म निवेदन की उठती ज्वाला का अहसास होता है। समर्पूण की निरंतरता का आत्मबोध होता है। किसी दूरस्थ ऊँचाई में आरोहरण का संकल्प होता है; एक अटूट यात्रा का पैग़ाम होता है। यह एक ऐसा पुनर्जन्म होता है जिसमें जीवन की सारी दिनचर्यायें और गतिविधियाँ एकाएक बदल जाती हैं और चेतना का दो बार उलटपलट हो जाता है। माँ कहती हैं कि चेतना का दो बार उलटा-पलट होता है – पहली बार भगवान् के लिये प्रखर पुकार उठने पर और दूसरी बार अतिमानस चेतना के अवतरण पर।

अभीप्सा सामान्य इच्छा भी नहीं है। यह एक चेतना से दूसरी उच्च चेतना में छलांग लगाने का संकल्प है। यह एक निर्णय है जो अंतर्मन की गहराई में लिया जाता है। यह अतीत के जीवन को बदलने का निर्णय है। भगवान् के नये विहान में फिर से सबकुछ प्रारंभ करने का अवसर है।

सच्ची अभीप्सा की पहचान और प्रकार

सच्ची अभीप्सा चैत्य पुरुष की व्याकुलता से उठती है। मान लीजिए एक अबोध बच्चे को सोते समय जंगल में उसकी माँ अकेले

छोड़ आई है। जागने पर बच्चा क्या करेगा? या किसी जीव या व्यक्ति को पानी में इतना डुबा दीजिए की वह साँस न लेने पाये तो उसकी हालत क्या होगी? दोनों ही स्थितियों में व्याकुलता पूर्ण छटपटाहट होगी। बच्चे में अपनी माँ को पाने की और व्यक्ति में साँस लेने की। भगवान् के बिना जब जीना असंभव हो जाय, और बाहरी जीवन का जीना बिल्कुल नीरस या उबाऊ बन जाय तभी सच्ची अभीप्सा का जन्म होता है। भगवान् क्या होता है यह तो आरंभ किसी को पता नहीं होता पर इस प्रबल पुकार में ही वह पहली बार अनुभव करता है कि वास्तव में जीने योग्य चीज ही उससे छूट रही है सारी सुविधायें और बाहरी जीवन को आराम से जीने के लिये सारे उपादान प्रचुर मात्रा में होने के बावजूद जब ऐसा लगे कि वास्तविक चीज, जिसे वह नहीं जानता, छूट रही है तभी अंदर से उसे पाने की पुकार उठाती है। यही सच्ची अभीप्सा है। बाद में हम इसे भगवान् या आत्मा, ईश या अल्लाह जैसा नाम दे देते हैं। यह अभाव ही इस बात को सिद्ध करता है कि शरीर, प्राण और मन के अतिरिक्त भी सत्ता में कोई अंग या चेतना का प्रदेश है जिसके बिना जीवन अधूरा होता है। धन-दौलत, मान-सम्मान, सुख के सारे साधन, अच्छा स्वास्थ्य, भोग्य पदार्थ, ऐश्वर्य और सुंदर शरीर –जिन्हें पाने की मनुष्य जीवनभर दौड़ लगता है, होते हुये भी उसे ना संतोष होता और ना शांति मिलती है और न ही वह आंनद जिसकी उसे तलाश है। यही कमी अभीप्सा को जन्म देती है। सामान्य जीवन जीने वाले के भीतर इस कमी का आभास नहीं होता इसलिए उसका कभी दूसरा जन्म नहीं होता। यह पुकार ही नये जीवन की ऊषा है जिसका बार-बार वेदों ने मंत्रगान किया है। यही जीवन में देवता का उदय है।

अभीप्सा कभी मन से या प्राण से पैदा होती है पर यह सच्ची अभीप्सा नहीं होती। यह निरी भावुकता या आवेग होती है जो क्षणिक होता है। किसी कारुणिक दृश्य या घटना से मन या प्राण प्रभावित हो उठते हैं और दया, उदारता जा सहानुभूति जैसी चीज कुछ समय के लिये पैदा हो जाती है और आवेग में मानवीयता वश कुछ अच्छा कर जाते हैं या उनमें सेवाभाव, त्याग की इच्छा या राष्ट्रीय भावना पैदा हो जाती है लेकिन यह अभीप्सा नहीं है। यह भावना का उद्वेग मात्र है। सच्ची अभीप्सा हृदय में, चैत्य के भीतर पैदा होती है जिसका उद्देश्य अपने आपको पाना, अपने आपको जानना होता है। यह स्वयं की उत्साहभरी मिठास होती है जो अंतर की गहराई से उठती है। अभीप्सा जागृत में हुई एक अनुभूति होती है। अवश्य ही इसके पीछे जन्मों की संचित स्मृति या संस्कार हो सकते हैं, पिछले जन्म की साधना या आध्यात्मिक उपलब्धियाँ हो सकती हैं जो

विकास के संचित कोष से अवसर पाते ही बाहर निकल आती हैं हमारा चैत्य पुरुष प्रत्येक जन्म में कुछ न कुछ विकसित होता है और विकास की यह पूँजी अगले जन्म में उसके साथ रहती है। प्रारंभिक जीवन में वह बाह्य जीवन के व्यापारों में दबी रहती है पर ज्योंही कोई ऐसी घटना घटती है या चेतना की गहराई को घटता छू लेती है तो यह दबी हुई उपलब्धि एकाएक ऊपर आ जाती है और सत्ता कम्पायमान हो उठती है। एक अनकही भीनी-भीनी आनंद और उमंग भरी छटपटाहट भीतर का दरवाजा तोड़ देती है। गूँगी चेतना एकाएक बोल उठती है। भीतर में भूचाल आ जाता है। अभीप्सा को अगर उपयुक्त अवसर मिलता है तो वह बढ़ती जाती है। वह इतना बढ़ सकती है कि कई जन्मों के आत्मिक विकास को एक ही जन्म में पूरा कर सकती है; यहाँ तक कि वह भगवान् के साथ आत्मिक सायुज्य भी प्राप्त करा सकती है। श्रीअरविन्द योग में, साधना की विशेष अवस्था में अभीप्सा शरीर के कोश-कोश में उठने लगती है। इन कोशों के केन्द्र में ही अतिमानस की आग भरी है। देह योग में जब शरीर के रुपांतर का प्रयास किया जाता है और शक्ति के अवरोहण द्वारा जब भागवत चेतना को कोशों के भीतर ठेला जाता है तो इन कोशिकाओं के भीतर की अभीप्सा जागती है जो जड़द्रव्य को रुपांतर करने के लिये कोशों के भीतर की आग को जलाती है।

माता जी कहती हैं कि जड़ के रुपांतर के लिये कोशों की अभीप्सा आवश्यक है। चैत्य से उठी अभीप्सा साधना की तैयारी है। साधना शक्ति के अवतरण को संभव बनाती है। शक्ति का अवतरण अतिमानस चेतना को शरीर के जड़त्व में प्रवेश कराता है। इससे स्थूल शरीर के कोशों में भी भगवान् के लिये भूख पैदा होती है और वे अपने आपको भागवत् प्रकाश के लिये खोल देते हैं जिससे स्वर्ग (अतिमानस लोक) की आग उनके भीतर की आग से मिल सके और शरीर रुपांतरित होकर,भगवान् का मंदिर बन जाए।

यही श्रीअरविन्द योग की सिद्धि है।

अचंचल रहो

श्रीमाँ

जब मैं किसी से कहती हूं, "अचंचल रहो," तो मतलब होता हैः कोशिश करो कि तुम्हारे अंदर विक्षुब्ध, उत्तेजित, अशांत विचार न हों; अपने मन को अचंचल बनाये रखने और अपनी समस्त कल्पनाओं, अवलोकनों तथा मानसिक रचनाओं को एक वृत्त में चक्कर काटते रहने से रोकने का प्रयास करो...।

अब, हम तुरंत देखते हैं कि एक दूसरी अचंचलता भी है जो आवश्यक है, यहाँ तक कि उसकी बहुत अधिक आवश्यकता है- यह है प्राणिक अचंचलता यानी, कामना का अभाव। केवल प्राण जब पर्याप्त रूप से विकसित नहीं होता, तो जैसे ही उससे शांत-स्थिर रहने के लिये कहा जाता है तो वह या तो सोने चला जाता है या फिर हड़ताल कर बैठता है; वह कहता है,

"आह ! नहीं। यह सब नहीं! मैं अब और आगे नहीं बढ़ूंगा। मुझे जिस पोषण की आवश्यकता है, उत्तेजना, उत्साह, कामना, यहाँ तक कि आवेश आदि, यदि तुम नहीं देते तो मैं हिलना-डुलना भी पसंद नहीं करता और अब मैं भी करुँगा भी नहीं।"

तो यहाँ समस्या जरा ज्यादा नाजुक बन जाती है और संभवतः और भी अधिक कठिन; क्योंकि निस्संदेह, उत्तेजना में से तमस् में जा गिरना प्रगति से बहुत दूर है! मनुष्य को तमस् या निद्राजय निष्क्रियता को कभी अचंचलता समझने की भूल नहीं करनी चाहिये।

अचंचलता बहुत भावात्मक स्थिति है; एक भावात्मक शांति है जो संघर्ष की विरोधी नहीं है-एक सक्रिय, संक्रामक, बलशाली शांति जो वश में करती और शांत करती है, जो प्रत्येक वस्तु को यथास्थान रखती, व्यवस्थित करती है... सच्ची अचंचलता बहुत महान् शक्ति है, बहुत महान् बल है... और यह बात भौतिक क्षेत्र में भी सच है।

तुम्हें बाहरी परिस्थितियों में अचंचलता को नहीं खोजना चाहिये, उसे अपने अंदर से ढूंढना चाहिये। सत्ता की गहराई में वह समग्र सत्ता में एक शांति है जो-अगर हम उसे अवसर दें तो-शरीर तक में वह समग्र सत्ता में अचंचलता उतार लाती है।

आध्यात्मिकता और नैतिकता

श्रीमाँ

नैतिक पूर्णता का आदर्श क्या है?

हजारों प्रकार की नैतिक पूर्णताएं होती हैं। नैतिक पूर्णता के लिये हर एक का अपना आदर्श होता है।

साधारणतः जिसे नैतिक पूर्णता कहा जाता है उसका मतलब होता है उन सब गुणों का होना जिन्हें नैतिक पूर्णता कहा जाता है, त्रुटियों का न होना, कभी भूल न करना, कभी गलती ना करना, हमेशा उसके जैसा होना जिसे सर्वोतम माना जाता है, सभी सदगुणों को अपने अंदर रखना अर्थात् उच्चतम मानसिक धारणाओं को प्राप्त करना। सभी सदगुणों को प्राप्त करना- वे बहुत-से हैं, है न ?- सभी सदगुणों को, वह सब जिसे मनुष्य ने अधिक- से –अधिक उद्दात, सत्यतम माना है, उस सबको पूर्ण रुप से जीना ताकि सभी कर्मों को, सभी गतिविधियों, सभी प्रतिक्रियाओं, सभी अनुभूतियों, हर चीज को वही राह दिखलाये-यह है नैतिक पूर्णता का जीवन जीना। यही है मनोमय पुरुष के विकास का शिखर।

यह करनेवाले बहुत नहीं हैं, फिर भी ऐसे कुछ लोग थे और अब भी हैं। साधारणतः लोग इसीको आध्यात्मिक जीवन मान लेते हैं। जब तुम ऐसे किसी आदमी से मिलते हो तो कहते हो, "यह एक महान् आध्यात्मिक व्यक्ति है" पर नहीं, वह एक महान् संत हो सकता है, महान् मनीषी हो सकता है पर आध्यात्मिक पुरूष तो नहीं है।

यह है बहुत अच्छा और इसे पाना भी बहुत कठिन है; और आंतरिक विकास में ऐसा समय होता है जब इसे चरितार्थ कोशिश करना बहुत जरूरी होता है। स्पष्टतः यह उस व्यक्ति बहुत ऊँचा होता है जो अभी तक अपने आवेशों, अपनी अज्ञानमयी और बाह्य प्रतिक्रियाओं के द्वारा हांका जाता है। एक तरह से यह भी अपनी प्रकृति का स्वामी होना है। मनुष्य को इस अवस्था में से गुजरना पड़ता है क्योंकि यह वह अवस्था है जब आदमी अपने अहंकार का स्वामी होना शुरू करता है, जब वह उसे छोड़ देने के लिए तैयार हो जाता है। अहं रहता तो है परंतु काफी कमजोर हो जाता है और अपने अंत के निकट पहुंच जाता है और यह दूसरी ओर पर निकल जाने से पहले की अंतिम अवस्था है। और निश्चय ही अगर तुम यह मान लो कि इस अवस्था को पार किये बिना ही तुम उस पार जा सकते हो तो तुम एक बहुत बड़ी भूल करने का खतरा मोल लेते

हो, अपनी निम्न प्रकृति की पूर्ण दुर्बलता को पूर्ण स्वाधीनता मान लेने की भूल करते हो।

अधिक-से-अधिक पूर्ण और विलक्षण मनोमय सत्ता से भी पार होकर इस नैतिक पूर्णता के आदर्श को चरितार्थ किये बिना, फिर चाहे वह कितने ही कम समय के लिये क्यों न हो, सच्चे आध्यात्मिक जीवन में जाना लगभग असंभव होता है। ऐसे लोग बहुत हैं जो मार्ग को छोटा करने की कोशिश करते हैं और बाह्य प्रकृति की सभी दुर्बलताओं को जीते बिना अपनी आंतरिक स्वाधीनता का दावा करते हैं, लेकिन इसमें अपने-आपको धोखा देने का बड़ा खतरा रहता है। सच्चा आध्यात्मिक जीवन, पूर्ण स्वाधीनता उच्चतम नैतिक उपलब्धियों से बहुत ऊँची चीज है। तुम्हें सावधान रहना चाहिये कि कहीं तथाकथित स्वाधीनता आत्मसंतोष और सभी नियमों की अवहेलना न बन जाये।

अभीतक उच्चतम मानवजाति ने जो कुछ उपलब्ध किया है, तुम्हें उससे भी ऊँचा, और अधिक ऊँचा होना चाहिये।

इससे पहले कि तुम अपने आध्यात्मिक पंख खोलो और ऊपर से इन चीजों को इस रूप में देखो कि ये अभी तक व्यक्तिगत पुरूष की चीजें हैं और सच्ची आध्यात्मिकता में प्रवेश करने से पहले, जिसकी कहीं कोई सीमा नहीं है, जो पूर्ण रुप से अनंत और शाश्वत जीवन जीती है, तुम्हें सहज रूप से वह बन जाना चाहिये जिसे मानवजाति ने उच्चतम माना है, अधिक से अधिक सुन्दर, अधिक-से-अधिक पूर्ण, अधिक-से-अधिक नि:स्वार्थ, अधिक-से-अधिक विस्तृत और सर्वोत्तम माना है।

तुम नैतिक नियमों को तभी तोड़ सकते हो जब तुम भागवत विधान का पालन करो।

श्री अरविन्द

चुप रहना

श्री माँ

वैयक्तिक विकास के दृष्टिकोण से और उन लोगों के लिए जिन्होंने अभी मार्ग पर चलना आरम्भ ही किया है एक ऐसी वस्तु के सामने चुप रह सकना जिसे वे नहीं समझते एक ऐसी बात है जो उन्नति पथ पर अत्यधिक सहायक होती है। आवश्यकता है चुप रहना जानने की, केवल बाह्य रूप से ही नहीं कि शब्द ना बोले जायें, अज्ञान अहंकारवश आग्रह ना करे जैसा कि वह करता है। ना ही वह उस यन्त्र की सहायता से समझने की कोशिश करे जो समझने में असमर्थ है, बल्कि वह अपनी दुर्बलता को समझे और सहज भाव में अपने आपको खोले और शांतिपूर्वक उस समय की प्रतीक्षा करे जब कि उसे 'प्रकाश' मिलेगा। कारण, केवल यह प्रकाश अर्थात् सच्चा प्रकाश ही उसे समझने की शक्ति प्रदान कर सकता है। यह वह चीज नहीं है जो उसने अब तक सीखी है, देखी है या जीवन में तथाकथित अनुभव के रूप में प्राप्त की है। वह कुछ और है जो पूर्णतया इससे आगे की वस्तु है। और जब तक यह 'और वस्तु' जो कि कि भागवत कृपा की अभिव्यक्ति है उसके अन्दर अभिव्यक्त ना हो तब तक वह यदि अत्यन्त शांति और नम्रतापूर्वक चुप रहे और समझने की, या विशेषतया कोई मत बनाने की कोशिश ना करे तो कार्य बहुत शीघ्र हो जायेगा।

ये सब शब्द और विचार मस्तिष्क में एक ऐसा कोलाहल पैदा कर देते हैं जो तुम्हें बधिर बना देता है और सत्य को-यदि वह अपने को प्रकट करना चाहे तो-सुनने से रोक देता है।

शांत और मौन रहना सीखो। जब तुम्हें कोई समस्या सुलझानी हो, तो अपने मस्तिष्क में सब प्रकार की संभावनाओं को, समस्त परिणामों को और उन सब चीजों को, जिन्हें करना या नहीं करना चाहिये, उलटने-पलटने के स्थान पर यदि तुम शांत रहो और सद्भावना के लिए अभीप्सा करो, तो समाधान शीघ्र हो जायेगा और, क्योंकि तुम चुप और शांत हो, तुम उसे सुन भी सकोगे।

जब तुम किसी कठिनाई में पड़ जाते हो तो इसी विधि का प्रयोग करो। चंचल होने, विचारों को खोजने, समाधान को ढूँढने के लिए भाग-दौड़ करने, चिंतित तथा दु:खित होने तथा अपने मस्तिष्क में इधर-उधर भटकने के स्थान पर–मैं यहाँ बाह्य क्रियाओं की बात नहीं कर रही, क्योंकि लोगों में संभवत: इतनी बुद्धि है कि वे ऐसा नहीं करेंगे, मेरा मतलब यहाँ मस्तिष्क के अन्दर

होने वाली हलचल से है-तुम शांत रहो और
अपनी प्रकृति के अनुसार, उत्साहपूर्वक या
शांति के साथ,तीव्रता या विशालता के साथ
या इन सबके साथ 'प्रकाश' का आवाह्न करो
और उसके आने की प्रतीक्षा करो।
तब रास्ता बहुत छोटा हो जायेगा।

जब जीवन शुष्क हो जाए

रविन्द्रनाथ ठाकुर

जब जीवन शुष्क हो जाए, तब तू
करुणा की धार बनकर आना!
जब जीवन का सारा माधुर्य अंतर्धान हो जाए,
तब तू गीतों का अमृत-रस बनकर उतरना!
जब संसारी काम का कोलाहल दैत्याकार होकर
गर्जन करने लगे और मुझे चारों ओर से घेर ले,
तब है, नीरव प्रभु! मेरे हृदय-स्थल में शांत चरण
प्रवेश करना!
जब मेरा हृदय दीन-हीन हो, अपने में ही सिमटा
कोने में पड़ा हो,
तब हे, उदार प्रभु! द्वार खोलकर
राजसी ठाट-बाट के साथ
मेरे घर में प्रवेश करना!
जब लालसाएँ अपनी विपुल धूलि और चमकीली
वंचनाओं से विवेक को अन्धा बना दें,
तब हे, पावन! हे, चिर-जागरित!
प्रचंड आलोक की तरह उतरना!

विजय

विमला गुप्ता

"सावित्री" महाकाव्य के अपने संक्षिप्त सर्वेक्षण में अब हम उसके दूसरे भाग तक पहुँचे हैं। इस समापन सत्र में हम इस महाकाव्य के तीसरे भाग को समेटेंगे जिसमें पाँच पर्व शामिल हैं।

हम पिछले सत्र में पढ़ चुके हैं कि अपनी कई यौगिक अनुभूतियों के फलस्वरूप सावित्री "दिव्यमाता अदिति" के रूप में उभरकर सामने आई हैं और अब वह मृत्यु का सामना करने के लिए पूर्ण समर्थ हो गई हैं।

इस महाकाव्य के पर्व आठ को "मृत्यु पर्व" शीर्षक दिया गया है और यह लगभग दस पन्नों का अकेला सर्ग हैं। इस सर्ग में हम सत्यवान और सावित्री को जंगल में साथ-साथ देखते हैं। सत्यवान लकड़ी काट रहा है और सावित्री बहुत गौर से उसे एकटक देख रही हैं। वह जानती हैं कि यही वह दिवस हे जब सत्यवान को मृत्यु का ग्रास बनना हैं। सहसा ही सत्यवान को अत्यन्त तीक्ष्ण पीड़ा का अनुभव होता है जिसने उसके शरीर को बुरी तरह झकझोर दिया है। वह वृक्ष के नीचे उतर आता है और सावित्री की गोद में सिर रखकर लेट जाता है। दर्द की पीड़ा और अधिक बढ़ जाती है। वह सावित्री को पुकारता है – "सावित्री" ओ सावित्री ! मेरे ऊपर झुककर मेरा चुम्बन लो। जैसे ही सावित्री झुककर उसका चुम्बन लेती है, वह मर जाता है।

ऐसी भीषण घड़ी में सावित्री ना तो दु:ख से अभिभूत होती है और न ही डर से सिहरती है। एक बृहद् शान्ति उसके अन्दर आती है। उस बियाबान जंगल में चारों ओर घोर नि:स्तब्धता है। वह ऊपर मुँह उठाकर देखती है तो सामने यमदेव खड़े हैं। सावित्री उनका सामना करने को प्रस्तुत है। अपने जीवन में आने वाली इसी दारुण घड़ी के लिए उसने अपने को तैयार किया था। जैसे ही यमदेवता सत्यवान की आत्मा को देह से खींचते हैं, सावित्री उठ खड़ी होती हैं।

यमदेव "शाश्वत महारात्रि" के क्षेत्र में आगे कदम बढ़ाते हैं। सत्यवान की आत्मा और यमदेव की छाया रास्ते पर आगे बढ़ती है और सावित्री एक दृढ़ हठीलेपन से उस "महारात्रि" के लोक में उनका अनुसरण करती हुई बढ़ती जाती है। इस लोक की विचित्र दृश्यावली अब एक रहस्यमय और गहन अंधकार में बदल जाती है।

महाभारत में यह प्रसंग – सावित्री और यमदेव के बीच हुआ विवाद – एक सामान्य

सा प्रभावहीन वार्तालाप है। सावित्री यमदेव के साथ बातचीत करती हुई आगे बढ़ती रहती है और उन्हें अपनी वाणी की नम्रता, मधुरता और चतुराई से प्रसन्न कर लेती है। यमदेव भी प्रसन्न होकर एक के बाद दूसरा वरदान उसे देते जाते हैं और अन्त में वह सत्यवान को उनके पंजे से छुटकारा दिला लेती है। सावित्री महाभारत की उस कथा में जो प्रयास करती है वह इतना ही है कि वह यमदेव को अपनी सच्ची और मधुर वाणी से प्रभावित व प्रसन्न कर चतुराई से अन्तिम वर में सत्यवान को जीवित करने की विवशता उनके सामने खड़ी कर देती है और अन्तत: अपने पति को वापस ले जाती है।

श्रीअरविन्द के महाकाव्य में सावित्री और मृत्युदेवता के बीच हुआ विवाद एक विकट संघर्ष है जो करीब 125 पन्नों में आया है और सात सर्गों में उसका विवरण है। पर्व नौ, दस, ग्यारह के सभी सर्गों में सावित्री "मृत्यु" के खिलाफ विविध तर्कों द्वारा बातचीत जारी रखती है जबकि वे दोनों "शाश्वत निशा" की भंयकर शून्यता से होकर गुजर रहे होते हैं, फिर अत्यन्त सघन धमिलता के लोक से होकर निकल रहे होते हैं और अन्त में जब वे शाश्वत दिवस के प्रदेश में से जा रहे होते हैं, सावित्री सत्यवान को वापस पृथ्वी पर लाना चाहती है ताकि वे दोनों भौतिक जीवन से उस पथ पर साथ-साथ आगे बढ़ते रहें जो प्रभु की ओर जाता है । इसी उपलब्धि से मृत्यु का अधिपति यमदेवता उन्हें रोकना चाहता है। वह जानता है कि सावित्री वास्वत में कौन है। उसका सत्यवान को वापस पृथ्वी पर लाने का उद्देश्य पृथ्वी पर दिव्य जीवन को प्रस्थापित करने का सांकेतिक निर्णय है और यही वह निर्णय एवं प्रयास है जिसे काल देवता असफल कर देने के लिए कटिबद्ध हैं। अत: वे कई प्रकार से सावित्री को उनके पीछे-पीछे न आने के लिए डराने एवं फुसलाते हैं और ऐसा करते समय वे एक चालाक कूट-तार्किक की तरह वादविवाद करते रहते हैं। वे सभी शंकओं को तर्कसंगत ढंग से सावित्री के सामने प्रस्तुत करने के प्रयास करते हैं ताकि वह सत्यवान को पुन: जीवन प्रदान करने के अपने निर्णय से विचलित हो जाये । वे अनेकानेक सम्भावित युक्तियाँ पेश करते हैं लेकिन उनकी कोई दलील कामयाब नहीं होती । अब मृत्यु देवता अपना मोर्चा बदल लेते हैं और एक विद्वान् आचार्य के समान मायावाद, शून्यवाद, अस्तित्ववाद तथा आदर्शवाद के सिद्धान्त बखान करने लगते हैं ताकि सावित्री को आकांक्षा दुर्बल पड़ जाये और वह उनका पीछा करना छोड़कर वापस लौट जाये। परन्तु सावित्री इनमें से किसी भी तर्क अथवा बात से प्रभावित नहीं होती और अपने प्रतिवादी की हर दलील को प्रभावहीन कर देती है। इस प्रकार महाकाव्य के इस भाग में श्रीअरविन्द अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों पर अपना मत देते हुए उन पर

विविध कोणों से प्रकाश डालते हुए, उनका विश्लेषण करते हुए अपने योग के आदर्श "दिव्य-प्रकाश" को समर्थन करते हैं और सिद्ध करते हैं कि जो अनित्य है, नश्वर है, उसका तर्कशास्त्र "नित्य" के विधि-विज्ञान को समझने के लिए अधूरा और नाकाफी है।

मूल महाभारत कथा में सावित्री से आमना-सामना होने की प्रारम्भिक अवस्था में यमदेवता उसके साहस एंव दृढ़ता से प्रभावित होते देखे गये हैं और उससे वरदान माँगने को कहते हैं। सावित्री उनसे सत्यवान के पिता की खोई हुए दृष्टि और खोये हुए राज्य को पुन: पाने का वरदान माँगती है। यमदेवता उसे वह वरदान प्रदान करते हैं और उससे पृथ्वी पर वापस लौट जाने की अपेक्षा करते हैं।

किन्तु सावित्री यमराज की सलाह मानने से इन्कार कर देती है। उनकी सलाह मानने का अर्थ है अपने "भाग्य" को स्वीकार कर लेना और पृथ्वी पर लौट जाने का अर्थ है, अपने मूल उद्देश्य से विमुख हो जाना। अब यमराज सावित्री की अभीप्सा और विश्वास पर प्रहार करना शुरू कर देते हैं। सावित्री निरन्तर प्रेम की रूपान्तरकारी शक्ति का समर्थन करती हुई उनके प्रत्येक तर्क को असफल कर देती है। यमराज प्रेम को मात्र-माँस की चाहना कहकर उसका उपहास करते हुए कहते हैं:-

यह प्रेम क्या है जिसे तू देवतुल्य सोचती है,

एक पवित्र आख्यान और कल्पित कथा ?

यह तो तेरी देह की जीवन्त तृष्णा है

यह तेरी रंगों की उत्कट पिपासा है.....

और तो भी कितनी क्षणिक, क्षीण और अल्पकालीन है।

देवतओं द्वारा मनुष्य को दी गई यह अमूल्य निधि व्यर्थ हो गई,

यदि सत्यवान जीवित रहता, तो प्रेम जीवित रहेगा

कुछ समय के लिए, तेरे सन्तप्त सीने में, जब तक

उसका मुख और शरीर, तेरी स्मृति पटल से धूमिल न हो जाएँ

जहाँ फिर दूसरे शरीर और मुखड़े आ जाते हैं।

(पर्व 10, सर्ग 2, पृष्ठ 610)

इस प्रकार यमदेव प्रेम का उपहास करते हुए वैराग्य की प्रशंसा करने लगते हैं। लेकिन सावित्री उनकी किसी भी नीति से प्रभावित नहीं होती । वह प्रेम के अनुपम सत्य और गरिमा से परिचित है। वह कहती है कि प्रेम, धरती और स्वर्ग दोनों का देवाधिदेव है:-

मेरा प्रेम हृदय की भूख नहीं है

मेरा प्रेम देह की तृष्णा नहीं है

यह प्रभु से मुझमें आया और उन्हीं को पुन: अर्पित है

यहाँ तक उस सबमें भी जिसे मानव और जीवन ने किया है कलुषित

दिव्यता की एक फुसफुसाहट अभी तक सुनाई पड़ती है

शाश्वत लोकों से आई उष्ण का श्वास अनुभूत हुआ करती है।

(पर्व 10, सर्ग 2, पृष्ठ 612)

मृत्युदेव अब फिर अपने तर्क और प्रमाण की नीति को बदल लेते हैं और प्रेम को एक भ्रान्त एवं मूर्खतापूर्ण धारणा साबित करने का प्रयास करने लगते हैं। वे कहते हैं कि ये प्रेम की भ्रान्त धारणा केवल मनुष्य जीवन तक ही ठीक है। मनुष्य इतना अपूर्ण प्राणी है कि उसे अमरत्व देना एक महान् भूल होगी। यमदेव मनुष्य से जुड़े सभी आदर्शों का वर्णन उसके मन की व्याधियों के रूप में करते हैं और उन्हें मात्र काल्पनिक कथा तथा शब्द एवं विचार की निरर्थक बकवास मानते हैं।

सावित्री उनके बयानों से प्रभावित हुए बिना उनसे कहती है कि वे सब कह रहे हैं पर उनका सच संहार करने वाला हैं और प्रेम के जिस सत्य को मैं जानती हूँ वह रक्षा करने वाला है। इसी प्रेम के सत्य का प्रमाण मैं प्रस्तुत करूँगी:-

ओ मृत्यु ! तूने एक अधूरी विश्व-रचना को देखा है

जो तेरे द्वारा हन्त होती रही है और जिसकी राहें अनिश्चित हैं

तूने अविकसित मन वाले लोगों और अज्ञानमय जीवन को देखा है

जो कहते हैं कि भगवान नहीं है और सब निष्प्रयोजन है

कैसे एक बालक एक पूर्ण विकसित मनुष्य हो सकेगा?

हमारी अपूर्णता निरन्तर परिश्रम करती है पूर्णता प्राप्त करने हेतु।

(पर्व 10, सर्ग 3, पृष्ठ 623)

सावित्री मनुष्य की सामर्थ्य और योग्यता की सीमाओं से परिचित है लेकिन वह जानती है कि ये सब भौतिक तत्व हैं जिनका किसी महत् एवं उत्कृष्ट विधान में परिवर्तित होना दैव-निर्दिष्ट है, क्योंकि मनुष्य स्वयं अपने अन्दर निरन्तर एक भारी दबाव महसूस करता है, एक पिपासा से अशान्त रहता है कि उसे किसी ऊँचे प्रयोजन से जुड़ना है जो उसे दिव्य जीवन में प्रवेश एंव परिवर्तित करा सके:-

हमारी पृथ्वी धूल मिट्टी से अपनी यात्रा शुरू कर महाशून्य में

समाप्त करती है

और प्रेम जो पहले एक पशु की वासना मात्र था

फिर बना प्रफुल्ल हृदय में एक मधुर उन्माद
और सुखी मन में एक उत्साही सहचर
अन्तत: हो जाता है एक विशाल आध्यात्मिक अभिलाषा का अन्तरिक्ष।

(पर्व 10, सर्ग 3, पृष्ठ 632)

सावित्री निरन्तर यह स्पष्ट करती जा रही है कि प्रेम ही समस्त पीड़ाओं से मुक्त करने वाला एकमात्र त्राता है जो मनुष्य जाति को अज्ञान से छुटकारा दिलाकर उसे सच्ची चेतना में रहना सिखायेगा। वह यमदेव को अपने पृथ्वी पर आने के उद्देश्य से अवगत कराती है और बताती है कि क्यों वह सत्यवान को वापस पृथ्वी पर लाना चाहती है:-

ओ मृत्यु, अपने हृदय की मधुर एवं तीक्ष्ण लालसा के लिए नहीं
और न केवल देह की परितुष्टि के लिए
में तुझसे जीवित सत्यवान का अधिकाल चाहती हूँ
वरन् एक पवित्र परिवर्तन के लिए हम दोनों को मिलकर कार्य करना है।
सितारों तले हमारे जीवन प्रभु के सन्देश-वाहक हैं
जो मृत्यु की छाया में रहने के लिए उतरे हैं
वे पृथ्वी तक प्रभु के मोहक प्रकाश को अज्ञ मानव-जाति के कल्याण
हेतु लाने के लिए
"उनके" प्रेम से मनुष्य हृदय के खोखलेपन को भरने के लिए
और विश्व से सन्तापों को प्रभु के आनन्द से उपचार करने हेतु
यहाँ आये हैं
क्योंकि "मैं" एक "नारी", प्रभु की शक्ति हूँ
और सत्यवान मानव में वास करती शाश्वत "आत्मा" है,
ओ मृत्यु ! मेरा संकल्प तेरे समूचे नियम से अधिक महान् है।
मेरा प्रेम भाग्य की जकड़ से अधिक बलवान है।
हमारा प्रेम प्रभु की दिव्य मुहर है, छाप है।
तेरे विनाशशील हाथों से, मैं इस "मुहर" की रक्षा करती हूँ।
प्रेम को इस पृथ्वी का त्याग नहीं करना चाहिए,
क्योंकि प्रेम ही धरती एवं स्वर्ग के बीच एक स्वर्णिम सेतु है
प्रेम ही इस धरा पर दूरगामी परमोत्कृष्ट देवदूत है
प्रेम ही मानव को प्रभु से प्राप्त उत्तराधिकार है।

(पर्व 10, सर्ग 3, पृष्ठ 633)

अब मृत्युदेवता सावित्री से अपनी बातचीत का पैंतरा फिर बदल लेते हैं और पूछते है कि मनुष्य जो कि नश्वर तत्त्वों से बना

है, वह कैसे अनश्वर आत्मा और "नित्य" प्रभु से एक हो सकता है? जैसा यह सांसरिक जीवन है, भगवान् ने इसे ऐसा ही बनाया है। इसे बदलने की बात करना और प्रयास करना मन की भ्रामक भूल है। यदि मुक्ति, आनन्द और अमरता कभी उपलब्ध हो सके हैं तो मृत्यु के पश्चात् ही दूसरे लोक में पाये जा सके हैं। जब तक मनुष्य इस देह का बाना पहने रहता है वह किसी ऊँचे महान् सत्य का अनुभव नहीं कर सकता, केवल यह अपूर्ण जग-जीवन जो अज्ञान, पीड़ा कठिनाई और दोषों का विषय है, उन्हीं के अधीन रहने को बाध्य है। सावित्री को प्रेम और सत्यवान के बारे में भूल जाना चाहिए और इस पृथ्वी की उपेक्षा कर भगवान् की ओर मुड़ जाना चाहिए। वे घोषणा करते है:—

"मैं "मृत्यु" ही "अमरता" का द्वार हूँ"

सावित्री निरुत्तर नहीं हुई। वह तर्क देती हुई कहती है कि यदि यह सृष्टि एक अर्थहीन शून्य से बाहर प्रकट हो सकती है, यदि पदार्थ ऊर्जा से बाहर आ सकता है, जीवन पदार्थ से सृजित हो सकता है और मन जीवन से तथा यदि आत्मा नश्वर देह के द्वारा दृष्टिगोचर हो सकती है तब इस प्रत्याशा में क्या संदेह है, क्या बुराई है कि आज का अर्धविकसित मनुष्य कभी आगामी भविष्य में भगवान् के पूर्णत्व को पा सके, दिव्य गुणों में परिवर्तित हो सके! आज भी मनुष्य में वे भव्य लक्षण पाये गये हैं जो इसके भावी जीवन को भगवान् के पूर्णस्वरूप में परिवर्तित होने की संभावना से युक्त हैं:—

तब कौन रोक सकता है भगवान् को अन्दर प्रवेश करने से?

कौन उसको मना कर सकता है निद्रित आत्मा का चुम्बन लेने से?

वे सत्य हैं और सदा ही हमारे निकट हैं

लेकिन वे खड़े हुए हैं अनन्तता के ज्योतिर्मय छोर पर।

मैंने यह जान लिया है, यह विश्व "वह" है

लेकिन मैंने अपने प्रभु की इस देह को भी प्यार किया है,

मैंने उसके भौतिक रूप का भी अनुसरण किया है,

लेकिन मात्र अपनी ही मुक्ति नहीं कर सकती है मुझे तुष्ट।

मैं एक ऐसा हृदय हूँ जो समस्त हृदयों से एक होकर पोषित होता है

मेरी आत्मा की मुक्ति मैं सबके लिए माँगती हूँ।

(पर्व 10, सर्ग 3, पृष्ठ 641)

इस प्रकार मृत्युदेव हर कोण, हर बिन्दु पर सावित्री से मात खाते जा रहे हैं। धीरे-धीरे वे अपने अधिकार, शक्ति, दर्प और हैसियत को खोते जा रहे हैं। अब वे सावित्री को आखिरी चुनौती देते हैं कि वह जो इतनी बड़ी-बड़ी बातें बखान कर रही है, अपनी शक्ति को प्रकट करे, अपने

बल को अनावृत करे, सामने लाए ताकि वे स्वयं भी उसके अमरता के अधिकार के दावे को जाँच सकें।

और सहसा सावित्री में एक विलक्षण परिवर्तन परिलक्षित होता है। उसमें निहित महान् "दिव्य मातृ-शक्ति" अपना आवरण उठाकर फेंक देती है और स्वयं को अनुपम, अवर्णनीय शोभा के साथ प्रकट करती है:—

ईश्वरीय प्रकाश के उस जाज्वल्यमान क्षण में
शरीरधारी आत्मा ने उठाकर फेंक दिया अपना आवरण
उस अनन्तता में एक लघु आकृति खड़ी थी
तथापि प्रतीत होती थी उसी "शाश्वत" प्रभु का एक घर
मानो जगत् का केन्द्र-बिन्दु उसी की वह अपनी "आत्मा"थी,
और समस्त विशाल अन्तरिक्ष उसी का बाहरी परिधान था.....
अमरता ने भेदक दृष्टि से "मृत्यु" की आँखों में देखा
और "महातमस्" ने देखा प्रभु के प्रत्यक्ष जीवन्त आकार को।

(पर्व 10, सर्ग 4, पृष्ठ 644-65)

सावित्री का यह विश्वरूप, उसके वास्तविक स्वरूप का दर्शन, मृत्युदेव पर हुआ आखिरी प्रहार है। वह उस "प्रकाश"से कंपकपा जाता है। प्रकाश उसे ढंक लेता है, उसकी रंगों में प्रवाहित होने लगता है और उसकी कालिमा को इतना निगल लेता है कि अब वहाँ मृत्युदेव के पूर्व रूप का कोई निशान नहीं रहता। वह सत्य एवं प्रेम के देवता के रूप में रूपान्तरित हो जाता है, विराट बन जाता है, हिरण्यगर्भ हो जाता है । सावित्री ने अब मृत्यु को परास्त कर दिया है लेकिन अभी उसकी दैवी परीक्षा का अन्त नहीं हुआ है। एक नवीन देवता, मृत्युदेवता का रुपान्तरित स्वरूप, अपना अन्तिम प्रयास उसे पृथ्वी पर दिव्य जीवन की कल्पना एवं निर्णय के प्रयास से विमुख होने के लिए करता है। वह कहता है कि जिस रूपान्तक की वह आशा कर रही है, वह पृथ्वी पर प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए वह सावित्री को स्वर्ग में आने की सलाह देता है और कहता है कि वह और सत्यवान प्रेम के आनन्द को वहाँ अनन्त काल तक भोग सकते हैं। लेकिन तब उसे पृथ्वी के विषय में सब कुछ भूल जाना होगा।

सावित्री इस प्रलोभन में नहीं आती। वह इन्कार कर देती है क्योंकि वह किसी एकान्तिक स्वर्ग में अपने और सत्यवान के लिए ही प्रेम का सुख नहीं चाहती। उसके जीवन का एकमात्र ध्येय उस असम्भव माने गये कार्य को पूरा करना है अर्थात् पृथ्वी पर प्रभु की शक्ति को लाकर सम्पूर्ण जीवन का रूपान्तर करना है:—

जैसे मैंने वर्जित कर दिया है तेरी "महानिशा" का

मुझे नहीं चढ़ना है उस "अमर दिवस" की ओर

पृथ्वी ही वीर आत्माओं की चुनी हुई भूमि है,

पृथ्वी ही वीर आत्माओं की युद्ध-भूमि है,

पृथ्वी ही वह कल्पना है जहाँ कुशल कारीगर अपने कार्य को रूप

देते हैं

अपेक्षाकृत स्वर्ग की तमाम भव्य स्वच्छन्दताओं के

पृथ्वी पर तेरे सेवा कार्य अधिक महान और श्रेष्ठ हैं

कष्ट पा रहे मनुष्य से बहुत दूर हैं तेरे स्वर्ग मेरे लिए

अपूर्णता वह सुख है जो सबके द्वारा नहीं बाँटा गया।

(पर्व 11, सर्ग 1, पृष्ठ 686-87)

यह रूपान्तरित देवता सावित्री की चिर-कल्याणी अभीप्सा के प्रति सहानुभूतिशील है पर उसे यह अचरज होता है कि पृथ्वी स्वर्गिक ऊँचाइयों तक भी उठे और फिर भी पृथ्वी बनी रहे, यह कैसे सम्भव है? अनेक सन्तों एवं ऋषियों ने मानवता को महान ऊँचाइयों तक उठाने के अनेक प्रयास किये हैं किन्तु कोई भी उपलब्धि अभी तक स्थायी नहीं हो पाई और मानवता जरा सा मौका पाते ही वापस कीचड़ मिट्टी में फँस जाती है। समय बड़ा बलवान होता है,वो ही कभी न कभी पृथ्वी का समस्या को हल कर सकेगा। वह रूपान्तरित देवता सावित्री को उस समय की धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करने की सलाह देता है जब "समय" ही अन्तिम रूप से मनुष्य को उसकी अयोग्यताएओं एवं अपूर्णताओं के छुटकारा दिलायेगा। सावित्री उस देववाणी को बताती है कि इस विश्व को प्रभु तक उठाने का महान् कार्य उसे सौंपा गया था। वह स्वीकार करती है कि मनुष्य अपनी वर्तमान अवस्था के रहते उस परमानन्द को नहीं पा सकता, उसे ग्रहण करने व अनुभव करने के लिए मनुष्य को इन्द्रियातीत बनना होगा और उन सीमाओं को तोड़ना होगा जो अब उसे नीचे जकड़े हुए हैं, बन्दी बनाये हुए हैं :—

चूँकि भगवान ने बनाया है पृथ्वी को

पृथ्वी को भी अपने अन्दर बनाना चाहिए भगवान् को

जो कुछ उसके सीने में छिपा है, उसे उद्घाटित करना चाहिए।

यदि मनुष्य अपनी पीड़ाओं से सदा के लिए जकड़ा रहता है

तब उससे महान् एक "महासत्ता" को उसके भीतर से उठना होगा

एक अतिमानव को "शाश्वत" सहचर के साथ आना होगा।

(पर्व 11, सर्ग 1, पृष्ठ 686-87)

श्रीअरविन्द के सन्देश का सार-तत्व है कि मनुष्य मन ही जिन संकीर्ण परिधियों में बंदी है, मन के दासत्व में बंधा हुआ है उसे उससे मुक्त होना होगा और अतिमानस के धरातल तक उठने का प्रयास करना होगा। उसकी नियति सदा के लिए उन सीमाओं तक रुके रहने की नहीं है वरन् उसका अतिमानस के भव्य स्तरों तक पहुँचना पूर्व-निर्दिष्ट है। यही मूल कारण है संकटों एवं संघर्षों की उस लम्बी परम्परा का, जिसका मानवता निरन्तर सामना करती रही है। वस्तुत: मुख्य संकट विकास-क्रम का संकट है। मनुष्य को मन के संकीर्ण धरातल से ऊपर उठना ही होगा, इससे कम कोई प्रयास उसे इन संकटों से नहीं बचा सकेगा जो बढ़ते-बढ़ते एक दिन महाविनाश में बदल जायेंगे।

यदि यही वह लक्ष्य है जो सावित्री मनुष्य के लिए हासिल करना चाहती है तो उसे आत्मा की कालविहीनता(TIMELESSNESS) तक उठना होगा और वहाँ से अपने संकल्प का बल काल (Time) पर डालना होगा। यही वह क्षेत्र है जो कालदेवता की पकड़ से ऊपर उठा हुआ है। चूँकि सावित्री उस लोक तक पहुँच चुकी है, मृत्युदेव अपने नये रूपान्तरित रूप में भी वहाँ नहीं रह सके, अत: विलुप्त हो जाते हैं और यही मृत्यु का अन्त है। जब मृत्यु का अन्त हो चुका होता है, एक नयी रहस्यमयी शक्ति जैसे विमुक्त हो जाती है और रचित सृष्टि का पूरा ढाँचा नींव से हिलने लगता है। इसी समय सावित्री को एक कड़क आवाज सुनाई देती है जो उससे चार बार दोहराती है -"चयन कर ले, चयन कर ले, चयन कर ले"। और आप जानते है कि सावित्री क्या चयन करती हैं? वह चुनती है – प्रभु की शान्ति, प्रभु की एकता, प्रभु की शक्ति और प्रभु का आनन्द और यह चयन वह मनुष्य और पृथ्वी के लिए करती है। इस प्रकार सावित्री अपने अवतरण के हेतु को पूरा करती है। जिस हेतु के लिए भगवान् पुन:-पुन: नीचे आते हैं और भू-जीवन एवं मानव मन में नव चेतना एवं विकास के नये परिवर्तन लाते हैं। आप चाहे तो इसे समाजवाद, और यथार्थवाद की संज्ञा दे सकते हैं किन्तु एक अन्य प्रकार का समाजवाद, उच्च मूल्यों की ओर उन्मुख यथार्थवाद।

श्रीअरविन्द के योग एवं उनकी आध्यात्मिकता का समस्त प्रयास मानवता के लिए "पूर्णत्व" लाना है और वह भी यहीं इसी पृथ्वी पर लेकिन इसे साधने के लिए एक समग्र क्रान्ति की आवश्यकता है । केवल सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्रान्ति पर्याप्त नहीं हैं, मानव-चेतना में एक मौलिक रूपान्तर करना ही होगा। उनकी सावित्री इसी रूपान्तर की अनवरत गूँजती पुकार है, उद्घोषणा करने वाली प्राणी है जो मनुष्य के लिए इस नयी क्रान्ति को सफल बनाने हेतु ही गई है।

अब वह रहस्यमयी शक्ति भी सावित्री सत्यवान को अकेला छोड़ दृश्य-पटल से हट जाती है। अब वे दोनों धीरे-धीरे समूचे वातावरण में व्याप्त एक परमहितैषी शक्ति की उपस्थिति का अनुभव करते हैं। यह शक्ति सावत्री की अपने लक्ष्य के प्रति एकनिष्ठा की भूरि-भूरि प्रंशसा करती है और उन दोनों पर उनके ध्येय का सफलता के लिए आशीर्वाद की बौछार करती है :—

ओ सत्यवान, ओ तेजस्विनी सावित्री !
इस गगन तले मैंने पूर्वकाल में भी भेजा था
प्रभु की युगल शक्ति को इस धरती पर
मरण-धर्मी मनुष्य में विचरण करेगा अतिमानव
और अभिव्यक्त करेगा छुपे हुए अर्धदेवता को
तब "समग्र" परिवर्तन लक्षित होगा, एक अनूठा नियम आकर
इस यान्त्रिक विश्व को अधिकृत कर लेगा;
एक अधिक बलशाली जाति इस भूलोक की वासी होगी
आत्मा स्थूल नेत्रों द्वारा बाहर देखेगी
और जड़ जगत् प्रकट करेगा आत्मा के मुख-मण्डल को,
स्थूल प्रकृति अन्तर्यामी प्रभु को अभिव्यक्त करने हेतु जियेगी
आत्मा मानवीय खेल को ग्रहण करेगी
और पृथ्वी जीवन होगा रूपान्तरित "दिव्य-जीवन" में।

उस सर्व-समर्थ प्रभु से सफलता का यह आशीर्वाद एवं अनुमोदन पाकर कि पृथ्वी जीवन दिव्य-जीवन में परिणित होगा, सावित्री और सत्यवान पृथ्वी पर वापिस लौटते हैं और यह अद्भुत महाकाव्य एक संक्षिप्त उपसंहार के साथ पूरा हो जाता है जिसमें हमें बताया गया है कि कैसे वे दोनों अपने स्वजनों से मिलते हैं और किन-किन नई परिवर्तित स्थितियों में उनका आनन्ददायक मिलन होता है।

पिछली तिमाही के कार्यक्रम

"प्रभु की कृपा से जब कभी कोई भागवत शक्ति स्वयं को किसी मानव सत्ता में प्रकट करती है तो उस सत्ता के विकास के साथ -साथ सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन भी एक नई शक्ति से संचारित हो उठता है। तब तुम्हें पूरी श्रद्धा के साथ,अपने तन-मन से स्वयं को जन्म -भूमि की सेवा में लगा देना चाहिए। इस क्षण अपनी जननी जन्मभूमि की सेवा ही हमारा परम धर्म है।....मां की पूजा-अर्चना के लिए नूतन आशा और ओज के साथ आगे बढ़ो ।"

श्रीअरविन्द(CWSA,खण्ड आठ,पृ.178)

15 अगस्त 2018: उपरोक्त पंक्तियों से प्रेरित होकर श्रीअरविन्द आश्रम, दिल्ली शाखा के युवक-युवतियों ने संयुक्त रूप से एक कार्यक्रम प्रस्तुत किया-'भवानी भारती', जिसमें उन्होंने देशभक्त शहीदों की देशभक्ति और बलिदान की भावना तथा

सैनिक जीवन की सजीव झाँकी प्रस्तुत की। देश के लिए अपनों से दूर रह कर,अपनों से किए वादों का मोह छोड़ कर, हमारे सैनिक किस प्रकार बड़े बड़े कष्टों का हँसते-हँसते सामना करते हैं। सीने पर गोलियां खाने वाले ये वीर किसी विवशता या दुख का शिकार नहीं होते, बल्कि चारों ओर उत्साह और

जोश का ऐसा रंग बिखराते हैं कि युवतियां भी उसमें सराबोर हो कर 'रंग दे बसंती का गुंजार कर उठती हैं। कार्यक्रम के दौरान भारत-भूमि की पूजा करने वाले देश वासियों की इस प्रस्तुति में मानो श्रीअरविन्द की वाणी गूंज उठी....। 15 अगस्त के उपरोक्त कार्यक्रम को आप निम्न यू ट्यूब लिन्क्स पर देख सकते हैं।

1:https://www.youtube.com/watch?v=FBQmrRhvERw

2:https://www.youtube.com/watch?v=qD7MCH1FP7k

3:https://www.youtube.com/watch?v=M70V2J-odUQ

4:https://www.youtube.com/watch?v=PaXRe-nc_x4&t=124s

आश्रम गैलरी

आश्रम में15 अगस्त के कार्यक्रम

प्रेरणाएँ

दिल्ली में आपके सान्निध्य में बिताये गये 25 वर्ष मेरे लिये बहुत ही अमूल्य रहे। इस बीच मुझे आपका जो अमित स्नेह और प्रेम मिला, उसके लिये मैं आप का अत्यन्त आभारी हूँ।

श्रीमाँ से प्रार्थना है कि मुझे आप जैसी दीदी जन्म-जन्म में इसी तरह मिलती रहें।

आपकाः - त्रियुगी

आश्रम के अन्य कार्यक्रम

प्रह्लाद तिरयाजी द्वारा कबीर भजन

तिथि- शुक्रवार 23 नवम्बर, 2018

स्थानः ध्यान कक्ष

समय- संध्या 6.45 7.30

आध्यात्मिक गोष्ठी

तिथि- शुक्रवार 23 नवम्बर, 2018

स्थानः चेतना योगा हाल हैल्थ सैन्टर

समय-प्रातः 10 बजे से सांय 8.30

भाषा-अंग्रेजी

24 नवम्बर, 2018

6.00 सायं-मार्च पास्ट और अभीप्सा की ज्योति

स्थानः समाधि उद्यान

6.45- संगीत अर्पण, तारा दीदी द्वारा सावित्री पाठ

युवा कैम्प मातृ किरन विद्यालय वन निवास, नैनीताल